श्रीमद् आचार्य योगीन्दुदेव-विरचित

अमृताशीति

कन्नड़ टीका
आचार्य बालचन्द्र अध्यात्मी

सम्पादन-अनुवाद
सुदीप जैन
व्याख्याता, जैनदर्शन विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली-16

प्रकाशक
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल,
उदयपुर (राज०)

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, उदयपुर का तृतीय पुष्प

अमृताशीति

मूल : श्रीमद् आचार्य योगीन्दुदेव

प्रथम आवृत्ति : 3300 प्रतियाँ

जुलाई, 1990

मूल्य 18/-

प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल,
उदयपुर (राज०)

मुद्रक : सविता प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण पुष्पकणा मुखर्जी

प्राप्ति स्थान

1. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल
   भामाशाह मार्ग, नया सर्राफा, उदयपुर-313001 (राज०)
2. प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
   ए० 4, बापूनगर, जयपुर-302015 (राज०)
3. दि० जैन मुमुक्षु मण्डल
   बी० 39, स्वास्थ्य विहार
   दिल्ली-110091

AMRITASHEETI (Poetry) by Acharya Yogindudev
Edited and translated by Sudeep Jain
First Edition 1990
Price Rs 18.00

समर्पण

उन समस्त विज्ञ पाठकों
एवम्
जिज्ञासु साधकों
के लिए,
जो
इसके हार्द को
आत्मसात् कर
परम पारिणामिक भाव रूप
'अनाहत' में
प्रविष्ट होकर
निर्विकल्प आत्मसमाधि को
प्राप्त कर सकें।

प्रकाशकीय

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल ट्रस्ट, उदयपुर (राजस्थान) की ओर से प्रकाशित ग्रन्थो की शृंखला में यह तृतीय पुष्प है।

सन् 1981-83 के अन्तराल मे दो वर्ष तक श्री सुदीप जी का उदयपुर प्रवास रहा, तब मण्डल का उनमे निकट सान्निध्य रहा। गत वर्ष जून 89 मे वे पुन कार्यवश उदयपुर पधारे, तो उनसे प्रस्तुत ग्रन्थ के बारे मे जानकारी मिली, तथा इस ग्रन्थ के कतिपय अशो पर उनके व्याख्यान सुनकर ट्रस्ट ने इसे प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

प्रस्तुत प्रकाशन के अवसर पर ट्रस्ट अपने सस्थापक सदस्यो, सर्वश्री चन्द्रसेन जी बण्डी, श्री सुन्दरलाल जी मेहता, श्री श्यामसुन्दर जी वैद, श्री हजारीलाल जी, श्री अम्बालाल जी गगावत व श्री उग्रसेन जी बण्डी का स्मरण करना चाहेगा, क्योंकि सत्साहित्य के प्रकाशन के प्रति इनकी प्रबल भावना व उदारप्रेरणा सदैव बनी रही, जिसके परिणामस्वरूप ट्रस्ट आज इस रूप मे विकसित हुआ है। इन सबके अतिरिक्त ट्रस्ट की महिला सदस्यो का भी समय-समय पर सहयोग और प्रोत्साहन निरन्तर प्राप्त होता रहा है।

जब कुन्दकुन्द ज्ञानचक्र का उदयपुर सम्भाग मे प्रवर्तन हुआ, तब जिनवाणी के प्रकाशन और प्रसार के निमित्त आर्थिक सहयोग हमे मिला, यह एक विशेष निमित्त इस दिशा मे रहा। इसके साथ-साथ एक प्रमुख आकर्षण था इस ग्रन्थ का अब तक अप्रकाशित बना रहना। श्री सुदीप जी की उदयपुर मण्डल ट्रस्ट के प्रति सहज आत्मीयता ने भी हमे इस दिशा मे प्रोत्साहित किया। साथ ही, हमारे द्वितीय पुष्प 'चर्चासग्रह' की समाज मे जो अत्यधिक माँग रही, उससे भी ग्रन्थ-प्रकाशन-कार्य मे हमारा उत्साह बढा है।

ग्रन्थ की कीमत कम करने के लिए मण्डल के सदस्यो एव अन्य साधर्मी भाई-बहिनों का उदार सहयोग मिला, तदर्थ ट्रस्ट उनका आभारी है।

निष्कर्षत. यह ग्रन्थ आपके हाथो मे है, इस आशा के साथ कि आप सभी का स्नेह और प्रोत्साहन हमे प्राप्त होता रहेगा, ताकि ट्रस्ट इसी प्रकार वीतराग-वाणी के प्रचार-प्रसार मे अनवरत रूप से अग्रसर बना रहे।

मन्त्री

17 जुलाई 1990

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल ट्रस्ट
भामाशाह मार्ग, नया सर्राफा,
उदयपुर (राजस्थान)—313001

अपनी बात

सन् 1979 के वार्षिक शिविर मे साध्यकालीन तत्त्वचर्चा के उपरान्त, सोनगढ (सौराष्ट्र) के उस रम्य किन्तु वैराग्य से ओत-प्रोत ज्ञानाराधना के वातावरण मे, इस शताब्दी के सभवत अद्वितीय क्रान्तिकारी आध्यात्मिक महापुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी ने न जाने क्या देखा एक साधारण-से बालक मे, और बोले "भाई ! खरेखर तो आत्मसाधना ही करवा योग्य कार्य छे, पण तमारी रुचि शास्त्रो मा रमे छे, तो आ पण प्रशसा योग्य छे। करी सको तो क्षयोपशमनु उपयोग वीतरागी आचार्य भगवन्तो अने ज्ञानियो ना शास्त्रो, जे ताडपत्रो मा छे, तेना प्रकाशन करावो। पण जिंदगी टूकी छे, माटे आत्महितप्रेरक अध्यात्म-ग्रन्थोनी विशेष महिमा ध्यानमा राखजो।" उनके इन उपकारी वचनो ने मेरे अध्ययन के दृष्टिकोण मे एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया, तथा जयपुर से जैनदर्शन मे शास्त्री करने के बाद मैं प्राकृत-अपभ्र श आदि भाषाओ के अध्ययनार्थ उदयपुर चला गया, क्योकि सस्कृत का कार्य-योग्य ज्ञान तो शास्त्री करने तक हो चुका था।

उदयपुर से एम० ए० (प्राकृत) करने के बाद मैं ग्रीष्मावकाश मे बम्बई गया, तथा वहाँ श्रीमान् शान्तिभाई जवेरी तथा शिरीषभाई खारा--इन दो साधर्मी भाइयो ने मेरे दक्षिण जाने व ताडपत्रो पर कार्य करने के भाव को सबल (प्रेरणा) दिया। सौभाग्य से मूडबिद्री के प्रथम द्वैमासिक प्रवास मे ताडपत्रीय कन्नड पाण्डुलिपियो का अध्ययन करने के लिए प० देवकुमार शास्त्री, मूडबिद्री जैसे हिन्दी, सस्कृत, जैनदर्शन व प्राचीन कन्नड ताडपत्रीय पाण्डुलिपियो के विशेषज्ञ का उदार सहयोग मिला, तथा तभी प्रस्तुत अमृताशीति ग्रन्थ की उपलब्धि हुई।

'अमृताशीति' की यह प्रति तभी मे अनूदित की हुई प्रकाशक की प्रतीक्षा मे थी कि गत वर्ष ग्रीष्मावकाश मे श्री लक्ष्मीलाल जी बण्डी और श्री कमलचन्द जी गदिया की भावना विशेष हुई व उदयपुर मुमुक्षु मण्डल ने इसका प्रकाशन स्वीकार किया।

इसकी प्रति को लेकर मै बाबू 'युगल' जी के पास कोटा गया, तो अस्वस्थता के उपरान्त भी उन्होने अमूल्य मार्गदर्शन किया, फलत इसके रूप मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये।

मेरे विभागाध्यक्ष डॉ० दामोदर शास्त्री, जो जैन दर्शन के समर्पित, स्वाध्यायी विद्वान् हैं, उन्होने इसे देखने, विशेषार्थ आदि मे सन्दर्भ जुटाने मे बहुत श्रमपूर्वक उदार सहयोग व मार्गदर्शन किया।

डॉ० गुलाबचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ ने इसके शुद्ध व आकर्षक मुद्रण-व्यवस्था हेतु मूल्यवान् परामर्श व सहयोग दिया। साथ ही, सविता प्रिंटिंग प्रेस के स्वामी श्री पाठक जी का मुद्रण कार्य मे विशेष आत्मीय योगदान रहा।

अन्य कई व्यक्ति प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से इसकी प्रेरणा मे निमित्त रहे, उनके प्रति मैं यथायोग्य कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

सम्पादन व अनुवाद के रूप मे यह मेरा प्रथम प्रयास है, अत विज्ञ पाठको से मेरा विनम्र अनुरोध है कि जो त्रुटियाँ इसमे हो, वे स्वय तो सुधार कर ही लें, साथ ही मुझे भी उनसे अवगत करावें, ताकि इसके आगामी सस्करण मे तथा इसी तरह के अन्य पाँच-छ ग्रन्थ जो प्रकाशको की प्रतीक्षा मे है, उनके प्रकाशन के समय उन सुझावो पर अमल किया जा सके।

अन्त मे, सम्पूर्ण श्रेय ग्रन्थकर्ता व टीकाकार आचार्यों का ही है, मुझसे तो उन जैसे महान् आचार्यों के ग्रन्थ व टीका के अनुवाद आदि कार्यों मे त्रुटि की सभावना है, अत वह दोष मेरा है। फिर भी जिस रूप मे भी बन सका, यह ग्रन्थ पाठको की सेवा मे प्रस्तुत कर रहा हूँ, आशा है उनका सम्बल मुझे प्राप्त होगा।

30 जुलाई, 1990

सुदीप जैन

जी-4, नौरोजी नगर, नई दिल्ली-29

सम्पादकीय

जैन अध्यात्म व ध्यान-योग की सुन्दर विवेचना करने वाले प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा प्राञ्जल 'सस्कृत' है, तथा टीका की भाषा प्राचीन कन्नड है, जिसे कर्नाटक प्रान्त मे 'हळेकन्नड' के नाम से जाना जाता है।

इस ग्रन्थ का पाठसम्पादन-कार्य करने मे मूल समस्या यह रही कि इसकी अन्य कोई प्रति मुझे उपलब्ध नही हो सकी। एकमात्र जो प्रति प्राप्त हुई, वह जैनमठ, मूडबिद्री (ज़िला मैंगलौर, कर्नाटक प्रान्त) के सरस्वती भण्डार मे है, जिसे मैंने 'प्राचीन प्रति' नाम दिया है। इसकी अन्य प्रतियो की तलाश मे मैंने श्रवण-बेल्गोल, हुम्मच-पद्मावती, बेंगलोर व कुम्भोज-बाहुबलि आदि विभिन्न स्थानो पर स्थित ताडपत्रीय ग्रन्थ-भण्डारो मे स्वय जाकर पर्याप्त खोज की व कई विद्वानो से सम्पर्क स्थापित किया, परन्तु निराशा ही हाथ लगी। तदुपरान्त उत्तर भारत मे राजस्थान, गुजरात व दिल्ली के ग्रन्थभण्डारो के सूचीपत्र देखे, परन्तु उनमे भी 'अमृताशीति' की किसी प्रति का उल्लेख प्राप्त नही हुआ। भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (महाराष्ट्र) मे जाकर भी इस ग्रन्थ की देश-विदेश मे उपलब्ध किसी प्रति की जानकारी चाही, परन्तु कोई नई सूचना वहाँ भी नही मिली। अन्ततोगत्वा इसी एकमात्र प्रति को आधार मानकर कार्य प्रारम्भ करना पडा। उस प्रति की प्राप्ति के लिए भी मैंने यत्न किया, जिसके आधार पर प० पन्नालाल जी सोनी ने सन् 1922 ई० मे 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' मे अमृताशीति को मूलरूप मे प्रकाशित किया था, किन्तु सफलता नही मिल सकी। अस्तु, प्रकाशित प्रति को ही 'नवीन प्रति' नाम देकर उसे मूलपद्य संख्या व पाठ-भेद आदि का आधार बनाया है। आगे मैंने मूड़बिद्री की कन्नड़ ताड़पत्रीय प्रति को 'प्राचीन प्रति' तथा सिद्धान्तसारादिसंग्रह में प्रकाशित अमृताशीति-मूलपाठ को 'नवीन प्रति' नामों से अभिहित किया है।

पद्यों की संख्या—पद्य-सख्या की दृष्टि से 'प्राचीन प्रति' मे मूलग्रन्थ के रूप मे 80 पद्य है, जो कि ग्रन्थ के 'अशीति' पद को सार्थक करते है, किन्तु 'नवीन प्रति' मे पद्यो की सख्या 82 है। तुलना करने पर पाया कि 'नवीन प्रति' के पद्य क्रमाक 8, 18 व 62—ये तीन पद्य ऐसे हैं, जो 'प्राचीन प्रति' के पद्य क्रमाक 6,

16 व 59वें की टीका मे भावार्थ के अन्तर्गत टीकाकार ने उद्धृत किए है। अत: मूल की दृष्टि से तीन पद्य 'नवीन प्रति' मे कम हो जाते हैं और उनकी संख्या 82 से घटकर 79 रह जाती है। फिर 'प्राचीन प्रति' के 79वें पद्य को 'नवीन प्रति' मे दो-दो पक्तियो के दो पद्य बनाकर उन्हे 80 व 81 पद्य-क्रमाक दिये हैं, फलस्वरूप सख्या की दृष्टि से यहाँ एक पद्य बढ़ जाता है। किन्तु 79वाँ पद्य वस्तुत 'हरिणी' छन्द है, जो चार चरणो मे पूर्ण होता है, इसके दो पद्य कैसे बना दिये गये—मैं नही कह सकता। परन्तु एक 'हरिणी' छन्द के रूप मे गिने जाने पर 'नवीन प्रति' की पद्य सख्या मे पुन एक की कमी आ जाती है, और उसमे मूल के 78 पद्य बचते है। और यही वस्तुस्थिति भी है; क्योकि 'प्राचीन' प्रति के 62वें पद्य को नवीन प्रति मे "उक्तम्—अहिंसाभूतानामित्यादि समन्त-भद्रवचनम्" कहकर तथा 64वे पद्य को 'अजगम जगमयो रागाद्युत्पत्तिहेतु" कहकर 'नवीन प्रति' मे छोड़ दिया गया है, और इन्हे कोई क्रमाक भी नही दिया गया है। चूँकि टीकाकार ने इन पद्यो को उद्धृत स्वीकारते हुए भी मूलग्रन्थ मे समाहित मानकर टीका की है, अत मैंने भी इन्हे यथावत् ही रखा है।

प्राचीन प्रति के पद्य क्रमाक 21 व 22वे का नवीन प्रति मे क्रम उलट दिया गया है। (नवीन प्रति मे इनके पद्य क्रमाक क्रमश 21>24 व 22>23-ऐसे है।)

चूँकि प्रस्तुत सम्पादित ग्रन्थ का आधार 'प्राचीन प्रति' है, अत इसके पद्य क्रमाक भी वही रहे है जो प्राचीन प्रति मे प्राप्त होते है। निष्कर्षत पद्यो की सख्या की दृष्टि से 'सिद्धान्तसारादिसग्रह' मे प्रकाशित अमृताशीति के मूल पाठ मे प्रस्तुत सम्पादित प्रति की अपेक्षा 2 पद्य कम है।

पाठभेद—'प्राचीन प्रति' चूँकि अधिक शुद्ध व प्रामाणिक है, अत उसकी अपेक्षा 'नवीन प्रति' मे पाठो की त्रुटियाँ भी बहुत है। पहले मैंने सारे पाठ-भेद एकत्रित किये थे, फिर सूक्ष्मता से विचार करने पर पाया कि कुछ पाठ-भेद तो सहज मुद्रण-दोष है व कुछ सन्धिरूपो के कारण विभिन्नता को लिये हुए हैं। अत मैंने उन्ही पाठ-भेदो को यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करने का निश्चय किया, जिनका सुधार न होने पर विभक्ति-भेद आदि कारणो से अर्थ-विपर्यय या सशय हो सकता था। सस्कृत के पाठ तो फिर भी जैसी प्रति प० सोनी जी के समक्ष रही होगी, तदनुसार ठीक-ठाक ही है, किन्तु 'नवीन प्रति' मे 18वे पद्य के रूप मे जो प्राकृतगाथा छन्द दिया है, उसका पाठ तो अत्यधिक दोषपूर्ण है, तुलनार्थ दोनो पाठ प्रस्तुत है—

'नवीन प्रति' का पाठ—

"चक्खु सदसण सय सारो सप्पडि दोसपरिहारीण।
चक्खू होइ णिरन्दो दट्ठूणभिलपडीतस ?"

"प्राचीन प्रति' का पाठ—

"चक्खुस्स दंसणस्स य, सारो सप्पादि-दोस-परिहरण ।
चक्खू होइ णिरत्थो, दट्ठूण बिले पडीतस्स ।।"

इससे प० सोनी जी के समक्ष उपलब्ध प्रति के लिपिकर्ता की प्राकृतविषयक अज्ञता का संकेत मिलता है तथा आगे दिये जाने वाले अन्य सस्कृत पाठभेदो से भी प्रतीत होता है कि लिपिकार ने प्रतिलिपि करते समय वर्णों की स्पष्टाकृति पर विशेष ध्यान नही दिया, परिणामस्वरूप 'थ, द, ध, व —ये चार वर्ण, जो कन्नड लिपि मे प्राय समान आकृति मे किंचित् अन्तर के साथ बनते है, उनमे भ्रमात्मक पाठ बन गये । अस्तु, जो प्रमुख पाठ-भेद है, वे निम्नानुसार हैं—

(नोट —इसमे जो पद्य क्रमाक दिये गये है, वे सभी प्रस्तुत सम्पादितकृति के अनुसार देखें) ।

पद्य क्रमाक	पाद सख्या	'नवीन प्रति' में पाठ	'प्राचीन प्रति' मे पाठ	पृष्ठ सख्या
1	3	सुगतमाधवमीश	सुगतमीशमनीश	
4	3	चतुरा स्वपुण्यै	चतुर आस्व पुण्ये	
8	4	कृष्णाश्रयागवगता	कृष्णाश्रयादवगता	
10	1	समस्त	समस्ति	
11	1	निर्वादमादिरहित	निर्बाधमाधिरहित	
13	2	सन्दर्शिता खिलपदार्थ	सन्दर्शितोऽखिलपदार्थ	
16	4	किन्तूर्ध्वसे	किं कूर्द्दसे	
17	4	वद तादृश कुर्वमे	बत तादृश कूर्द्दमे	
20	3	एकद्वयेन	एतद्द्वयेन	
22	3	चरणं समन्तात्	समता समन्तात	
24	3	सौख्यमया हिमानी	सौख्यमहे हिमानी	
25	3	समीत्वात्	सखीत्वात्	
27	1	चरणा	चरणौ	
29	4	अर्हन्तमक्षरमिद	अर्हन्तमक्षरमिम	
32	3-4	वारिवर्ष न,र्हं	वारिवर्षन्नर्हन्	
36	4	तरसात्	तरसा	
39	2	बिन्दुदेवे	बिन्दुदेव	
41	2	प्राप्तलोक	प्राप्यलोक	
44	1	दामकामादिकाना	धामकामादिकाना	
	2	दुतबिदुरविधान	धुतविधुरविधान	

45	3	विमलसदलयोगा	विलसदमलयोगा
46	4	जायते सा चतुर्था	जायतेऽसौ चतुर्धा
47	3	यश्च	यच्च
48	1	दूरदृष्टि	दूरदृष्टि.
49	2	घोषाम्भोगि निर्घोषतुल्य	घोषाम्भोनिधेर्घोषतुल्य·
50	2	हो यतीशा	हे यतीश !
	4	किमफलै	किं फलै:
54	2	गणधराद्य	गणधराद्यै
	3	नादिगम्य	नाधिगम्य
57	4	तदपरत्व	तदपर त्व
59	3	इह भवति	इति भवति
60	3	सुनय मत्वान्मवच	सुनय ! मत्वा मद्वच
	4	धामाधिपस्त्वम्	धामाधिधाम
67	4	शरणमवन्द्य	शरणममन्द
69	1	सम	शम
	2	दृष्टा (ष्ट्या)	दृष्टौ
	3	शास्त्रो	शास्ता
	4	तन्मता	त्वन्मता
70	1	ये लोक	यो लोक
	4	पूरुषे प्रतिहता	पूरुषेऽप्रतिहता
71	3	मतिनिरोधे	मतिनिरोध
	4	समदिवस	स्वमधिवश
72	2	लब्धलक्ष्या	लब्धलक्ष्य
74	1-2	भ्राम्य, भ्रात ब्रह्माण्ड	भ्राम्यताऽत्र, भ्रात ! ब्रह्माण्ड
	3	क्वचिदपि	क्व-क्वचिदपि
75	2	रगतरग	रंगतरगा
	4	देहे	देही
79	2	यद्ध्यायास	यद्यायास
	4	श्रीहिर्बीजान्न	व्रीहेर्बीजं न
80	2	परमपरनरा	परममरनरा

चूंकि इस ग्रन्थ मे योगशास्त्रीय शब्दावलि का प्रचुर प्रयोग हुआ है, तथा अन्य कई ऐसे प्रसग प्राय प्रत्येक पद्य मे आते रहे, जिनका जैन परम्परा की दृष्टि से

स्पष्टीकरण अत्यावश्यक था, परिणामस्वरूप ग्रन्थकार के मूलपद्यो के हिन्दी खण्डान्वय तथा टीकाकार कृत कन्नड टीका व भावार्थ के हिन्दी अनुवादो के उपरान्त 'विशेष' शीर्षक के अन्तर्गत उन प्रसंगों का आगम प्रमाणपूर्वक स्पष्टीकरण दिया गया है। फिर भी इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि इसके अन्तर्गत मूल ग्रन्थकार, टीकाकार व जैन परम्परा के ही अभिप्रायो का स्पष्टीकरण हो, अपनी निजी रुचि या अवधारणा से प्रेरित होकर कुछ भी नही जोडा जाये।

इसमे कन्नड टीका के हिन्दी अनुवाद में प्रमुख समस्या यह रही कि यह 'पद-व्याख्या' शैली की टीका है, अत हिन्दी अनुवाद मे वाक्य-विन्यास सही हो, तथा अनुवाद मूल टीकानुगामी ही हो— इन दोनों बातो का तारतम्य कैसे बैठे? अत· कोष्ठको का प्रयोग कर इस समस्या को हल करने की चेष्टा की गयी है, फिर भी वैसा वाक्य-सौष्ठव नही बन पाया है, जो सीधी गद्यात्मक टीका मे सभव होता है।

ग्रन्थ, ग्रन्थकार व टीकाकार आदि के विषय मे विवेचन 'प्रस्तावना' के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये हैं।

अन्त में दो परिशिष्ट दिये गये है, जिनमे प्रथम परिशिष्ट मे पद्यानुक्रमणिक है, तथा द्वितीय परिशिष्ट मे उन सन्दर्भ ग्रन्थो की सूची है, जिनका उल्लेख 'विशेष' लिखने समय तथा प्रस्तावना लिखते समय किया गया है।

अपनी ओर से पूरी सावधानी रखने के बाद भी अल्पज्ञ होने के कारण अनेक त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है, आशा है विज्ञ पाठकगण उन्हे सुधारकर मुझे अवगत कराने की उदार अनुकम्पा करेंगे।

20 जुलाई, 1990

सुदीप जैन

व्याख्याता, जैनदर्शन विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय सस्कृत विद्यापीठ

(मान्य विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली-110016

ग्रन्थ की कीमत कम कराने में आयी राशि का विवरण

बम्बई से—

3300/- श्री कांतिभाई मोटाणी

छिन्दवाड़ा (म० प्र०) से—

501/- श्रीमती मलखू देवी पाटनी
501/- श्री इन्दरचन्द कौशल
501/- श्री सजीव सिंघई
501/- श्री प्रमोद कुमार जैन
251/- श्री रामचरण जैन
201/- श्री प्रबोध चद जैन वकील
151/- श्रीमती जतन देवी पाटनी
105/- श्रीमती इन्द्रा जैन
101/- श्रीमती तीजाबाई पाटनी
101/- श्री गणेशलाल जैन
101/- श्री लक्ष्मी नारायण झाझरी
101/- श्री विमल कुमार जैन
101/- श्री पीताबर लाल पाटनी
101/- श्री जिनेन्द्र जैन (दमोह)
101/- श्री अशोक पाटनी
101/- श्री प्रकाश जैन
101/- श्री सन्मत कुमार जैन
101/- श्रीमती सोनाबाई जैन
101/- श्री नागकुमार जैन
101/- श्री जुगराज बाबाजी
101/- श्रीमती सिंधु बाई जैन
101/- श्री शांति सर्राफ
101/- श्रीमती मखमली बाई जैन
101/- श्रीमती किरण जैन
101/- श्रीमती सुधा पाटनी
101/- श्री रतन चंद पाटनी
101/- श्री निर्मल चद जैन
101/- श्रीमती चदाबाई (चौराई)
101/- श्री विनय कुमार जैन
101/- श्रीमती ताराबाई पाटनी
101/- श्री एम० के० गोरे
101/- मातुश्री रवि जैन
101/- गुप्तदान हस्ते श्री चितरजन
101/- श्री रमेश सिंघई
101/- श्री दशरथ लाल जैन
101/- श्री एस० पी० जैन
101/- श्री दुबेलाल जैन
101/- श्रीमती राजकुमारी जैन
101/- श्री जयचन्द जैन
101/- श्री महेन्द्रकुमार जैन (ललितपुर)
101/- श्री प्रकाशचद जैन
101/- श्रीमती योजना कान्हेड
101/- श्रीमती बबीता टोंग्या (जयपुर)
101/- श्रीमती सरोज जैन
55/- श्रीमती निर्मला जैन
52/- श्रीमती कुसुम बाई
51/- श्री शातकुमार जैन L I C वाले
51/- श्रीमती विजया जैन कौशल
51/- श्री गेमचंद जैन

51/- श्री पदमचद जैन	31/- श्रीमती कमल रानी
51/- श्री शीलचद जैन	25/- श्री मुन्नालाल जैन
51/- श्रीमती धनियाबाई जैन	21/- गुप्तदान
51/- श्रीमती कांतिबाई	21/- बेलादाई
51/- श्री गुजन रेडियो	21/- श्री बल्लभदास जैन
51/- श्री कोमल चद जैन	21/- श्रीमती अनुसुइया बाई
51/- श्री प्रमोद कुमार (चोरई)	21/- श्री भोपत लाल जैन

उदयपुर से

25./- श्री लक्ष्मीलाल एण्ड ब्रदर्स	101/- श्री चुन्नीलाल भदावत
251/- श्री माणक चद ठाकुरिया	65/- श्री दि० जैन मुमुक्षु मडल, नौगामा
251/- श्री भवरलाल गगावत	51/- श्री सुखलाल अखावत
201/- श्रीमती फैलीबाई सिंघवी	51/- श्री ललितकुमार पचोली
201/- श्री रगलाल बोहरा	51/- श्री नितिन जैन
201/- श्री राजेन्द्र कुमार बण्डी	51/- श्री सुरेन्द्र कुमार वैद
201/- श्री शातिनाथ सोनान	51/- श्री मीठालाल भगनोत
151/- श्री रूपलाल गगावत	51/- श्री रतनलाल टीमाखा
151/- श्री कचरूलाल मेहता	51/- श्री देवीलाल डूगरिया
151/- श्री जीतमल सगावत	51/- श्री भगवती लाल जसीगोत
101/- श्री इन्द्रमल गोर्धनोत	51/- श्री फतेहलाल अखावत
101/- श्री प्यारेलाल बोहरा	51/- श्री जेवरचद सलावत
101/- श्री भवरलाल सगावत	51/- श्रीमती कमलाबाई
101/- श्री चन्द्रलाल बोहरा	51/- श्री गणेशलाल लूनावत
101/- श्री भंवरलाल अखावत	51/- गुप्तदान, हस्ते श्री छोटेलाल जैन
101/- श्री प्रेमचन्द गंगावत	51/- श्री बसतीलाल बजुबावत
101/- श्री अम्बालाल बजुबावत	51/- श्री रतनलाल लखमावत
101/- श्री सुजानमल गदिया	51/- श्री चादमल सगावत
101/- श्री कुजबिहारी लाल वैद	51/- श्री रोशनलाल पटवारी
101/- श्री केशरदेवी बण्डी	51/- श्री नेमीचद भोरावत
101/- श्री सुभाष चन्द गदिया	51/- श्री मणीलाल भोरावत
101/- श्री शांतिलाल भदावत	51/- श्री भागचन्द कालिका
101/- श्री चन्द्रलाल मेहता	51/- श्री शातिलाल अखावत
101/- श्री कमलचन्द गदिया	51/- श्री नारायण लाल गगावत
101/- श्रीमती कचनबाई गदिया	51/- श्री नन्दलाल लोलावत

51/- श्री हीरालाल अखावत
51/- श्री कोदरलाल भोरावत
51/- श्री मागीलाल अग्रवाल
51/- श्री नेमीचद पाटनी
51/- श्री राजमल गोदड़ोत
50/- श्री भवरलाल ताराचदोत
50/- श्री प्रकाशचन्द पोरलाल
50/- श्री नीरज जैन
50/- श्री शातिलाल टाया
50/- श्रीमती सुधा पाटनी
50/- श्रीमती इन्द्रा गंगावत
50/- श्रीमती नारिन्द्रा बण्डी
50/- श्री नेमीचद जी बूंदीवाले

कुल राशि 15945/- रुपये

प्रस्तावना

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रवर्धित एवं पूज्यपाद आदि आचार्यों द्वारा पोषित अध्यात्म-परम्परा को नये आयाम देने वाले जैन योग एव अध्यात्म के महान् आचार्य योगीन्दुदेव के यश प्रसार के लिए 'परमात्मप्रकाश' व 'योगसार' जैसे ग्रन्थो के रहते किसी नवीन परिचय की वस्तुत आवश्यकता नही है। उनके कृतित्व की जितनी जनख्याति है, उनके व्यक्तित्व के बारे मे आज भी अनेको जिज्ञासाये पूर्ववत् विद्यमान है।

नाम—'परमात्मप्रकाश' मे इन्होने अपना नाम 'जोइन्दु' दिया है, जो कि विशुद्ध अपभ्र श रूप मे इनका निर्विवाद नाम माना जाता है, किन्तु इसके सस्कृत-निष्ठ रूपो के बारे मे पर्याप्त अनिश्चितता है। 'जोइन्दु' की बतर्ज 'योगीन्दु' इनका नाम स्वीकार कर इस समस्या का एकपक्षीय समाधान सोच लिया गया है। जबकि आ० ब्रह्मदेव सूरि, आ० श्रुतसागर सूरि तथा आ० पद्मप्रभमलधारिदेव आदि अनेको प्राचीन आचार्यों ने इन्हे 'योगीन्द्र' नाम से अभिहित किया है। यह सब जानते देखते हुए भी आज की विद्वत्परम्परा इनके 'योगीन्द्र' नाम को भ्रमात्मक घोषित कर रही है, वह भी डॉ० ए० एन० उपाध्ये के 'जोइन्दु' के 'इन्दु' व 'जोगिचन्द' (योगसार मे दिया नाम) के 'चन्द' को पर्यायवाची कहकर इनका सस्कृत नाम 'योगीन्दु' सिद्ध कर देने मात्र से। यद्यपि इस तर्क से मेरा कोई निजी विरोध नही है, तथा डॉ० उपाध्ये की विद्वत्ता का मैं पर्याप्त सम्मान करता हूँ, किन्तु उनके समक्ष प्राचीन आचार्यों के वचनो को उपेक्षित किया जाये, और वह भी तब, जब तर्क, युक्ति व व्याकरण उनका समर्थन करते हो, तो यह विचारणीय हो जाता है कि कही हम 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के पथ पर अग्रसर तो नही हैं?

व्याकरणिक दृष्टि से विचार किया जाये, तो अपभ्रंश भाषा की उकार-बहुला प्रकृति को प्राय सभी विद्वानो व भाषाविदो ने स्वीकार किया है, तदनुसार जैसे 'नरेन्द्र' का 'नरिंदु', 'पत्र' का 'पत्तु' रूप अपभ्रंश मे बनते हैं, वैसे ही योगीन्द्र>जोईन्द>जोइन्दु रूप भी सहज समझ में आ सकने वाला तथ्य है। केवल इतना ही नही, इन्होने स्वयं भी अपना नाम 'योगीन्द्र' स्वीकारा है।

'अमृताशीति' इनका प्रथम सस्कृत ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, इसके अन्तिम पद्य मे "योगीन्द्रो व मचन्द्रप्रभविभुरविभुर्मगल सर्वकालम्" कहकर अपने नाम का सस्कृत रूपान्तर 'योगीन्द्र' सकेतित किया है। और टीकाकार आ० बालचन्द्र अध्यात्मी ने भी टीका मे अनेकत्र इनका नाम 'योगीन्द्र प्रयोग किया है, तथा अन्त मे भी "श्री योगीन्द्रदेवकृतामृताशीतिनामधेययोगग्रन्थ समाप्त" कहकर उपसहार किया है।

यद्यपि बहुश्रुत व बहुप्रचलित होने के कारण हिन्दी मे मैने भी ग्रन्थकार का नाम 'योगीन्दु' ही स्वीकृत किया है, ताकि सामान्य पाठको को दो भिन्न नामो से दो आचार्यों का भ्रम न हो, किन्तु मेरे मन्तव्यानुसार 'योगीन्दु' के समान 'योगीन्द्र' भी 'जोइन्दु' का ही नाम है। तथा यह स्पष्टीकरण इसलिए भी अपेक्षित था, कि कही यह न आशका उठायी जाये कि परमात्मप्रकाश-योगसार के कर्ता तो योगीन्दु है, तथा अमृताशीति के कर्ता 'योगीन्द्र' कोई भिन्न आचार्य है।

काल-निर्णय—योगीन्दु के काल-निर्णय के बारे मे कई अवधारणाये प्रचलित है, उनमे प्रमुख है—

(i) जोइन्दु 873-973 ई० के मध्य (वीर निर्वाण की 15वी शताब्दी मे) हुए है (वीरशासन के प्रभावक आचार्य पृ० 71-72)।

(ii) भाषा के आधार पर डॉ० हरिवश कोछड ने इन्हे 8-9वी शताब्दी ई० का माना है, तो राहुल साकृत्यायन ने 1000 ई० इनका काल निर्धारित किया है।

(iii) छठी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध मे योगीन्दु का काल डॉ० ए० एन० उपाध्ये व डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने स्वीकार किया है।

(iv) सिद्धान्तसारादिसग्रह के सम्पादक प० परमानन्द सोनी ने इन्हे वि० स० 1211 के पहले का विद्वान् माना है।

आज की परम्परा इन्हे छठी शताब्दी ई० का ही स्वीकारती है।

किन्तु अमृताशीति ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त इस मान्यता पर प्रश्न-चिह्न अकित हो जाता है। क्योकि उन्होने अमृताशीति मे आ० समन्तभद्र, आ० अकलकदेव, विद्यानन्दिस्वामी, जटासिहनन्दि, भर्तृहरि आदि के नाम से सात पद्य उद्धृत कर उन्हे मूल ग्रन्थ मे समाहित किया है। इनमे से आचार्य समन्तभद्र व भर्तृहरि के नाम से उद्धृत पद्यो के अतिरिक्त अन्य कोई भी पद्य अन्य अकलक आदि आचार्यों के उपलब्ध साहित्य मे प्राप्त नही होता है। आ० विद्यानन्दि के नाम से उद्धृत जो पद्य है, वे उन्होने भी अपने ग्रन्थो मे कही अन्यत्र से उद्धृत किये है। अत यह निर्धारण करना कि योगीन्दु किस समय हुए—इन पद्यो व इनके कर्त्ता आचार्यों के निर्धारण पर निर्भर करता है। यही इनके काल निर्धारण का

प्रमुख आधार होगा। भाषा आदि पर आधारित निर्णय तो अनुमान मात्र हैं। तथा दो आचार्यों की विषय व शैलीगत समानता भी काल-सामीप्य या काल-ऐक्य का कोई बडा आधार नही है। अत इन उल्लिखित आचार्यों के स्थितिकाल के आधार पर योगीन्दु का काल छठी से दसवीं शताब्दी ई० के मध्य संभाव्यमान है। विद्वद्गण यदि इन पद्यो (विवरण आगे है) के बारे मे कोई विशेष ठोस जानकारी दे सकें, तो यह समस्या हल हो सकती है।

जीवन-परिचय—योगीन्दु के जीवन के बारे मे जितने अन्धकार मे अनुसन्धान-कर्त्ता हैं, सभवत इतनी निरुपायता अन्य किसी आचार्य के बारे में वे महसूस नही करते हो। एकमात्र सूत्र 'प्रभाकर भट्ट' नामक शिष्य का उल्लेख है, किन्तु वह भी कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व नही है। यहाँ तक कि योगीन्दु साहित्य के बाहर कही उसका नामोल्लेख तक नही है। अत हमे तो योगीन्दु का व्यक्तित्व उनके कृतित्व से भिन्न कुछ भी कहने योग्य नही रह जाता है।

महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने इनका निवास क्षेत्र राजस्थान होने की सम्भावना व्यक्त की है। (देखे, अपभ्रंश और अवहट्ट एक अन्तर्यात्रा, पृ० 61)

रचनायें—योगीन्दु के नाम मे 'परमात्मप्रकाश' व 'योगसार' तो असन्दिग्ध-प्रमाणित कृतियाँ है। इनके अतिरिक्त अमृताशीति, निजात्माष्टक, नौकार-श्रावकाचार, अध्यात्मसदोह, सुभाषिततन्त्र, तत्त्वार्थटीका व दोहापाहुड —ये सात रचनाये और योगीन्दुकृत मानी हैं। इनमे से दोहापाहुड तो मुनि रामसिंह की कृति है —यह प्रमाणित हो चुका है। तथा अमृताशीति व निजात्माष्टक के अतिरिक्त कोई कृति उपलब्ध नही है, अत ये दोनो ही विचारणीय रह जाती हैं।

अमृताशीति के टीकाकार आचार्य बालचन्द्र अध्यात्मी ने टीका के प्रारम्भ मे कहा है कि "श्री योगीन्द्रदेवरु प्रभाकरभट्टप्रतिबोधनार्थममृताशीत्यभिधान-ग्रन्थमं माडुत्तम ···" इत्यादि। इसमे प्रभाकर भट्ट का नामोल्लेख परमात्मप्रकाश-कर्त्ता योगीन्दु से अभिन्न सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है। परमात्मप्रकाश मे वे कहते हैं, "भट्ट पहायर-कारणइ मइ पुणु वि पउत्तु", अर्थात् "इस ग्रन्थ की रचना मे मै भट्ट प्रभाकर के कारण प्रवृत्त हुआ हूँ।" अत अमृताशीति तो सुनिश्चित रूप से परमात्मप्रकाशकर्त्ता योगीन्दुदेव की ही रचना है।

तथा निजात्माष्टक की जैनमठ, मूडबिद्री के ग्रन्थागार मे प्राप्त एक कन्नड ताडपत्रीय पाण्डुलिपि के आरम्भ मे "निजात्माष्टकम् श्री योगीन्द्रदेव विरचितम" तथा अन्त मे "इति श्री योगीन्द्रदेवविरचित-निजात्माष्टक परिसमाप्तम्"—प्राप्त ये वाक्यद्वय इसे भी योगीन्दुदेव की ही रचना सकेतित करते है।

अत निष्कर्षत: परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), योगसार (अपभ्रंश), अमृताशीति (संस्कृत) तथा निजात्माष्टक (प्राकृत)—ये चारों योगीन्दुदेव की रचनायें हैं।

अन्य पाँचो रचनाओ की योगीन्दुकर्तृता सभी विद्वानो ने सन्दिग्ध ही मानी है।

यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होता है कि योगीन्दु मात्र अपभ्रंश के ही कवि / विद्वान् नही थे, जैसा कि पं० परमानन्द शास्त्री (देखें, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, पृ० 128) आदि विद्वानो ने स्वीकार किया है। अमृताशीति के सस्कृत मे तथा निजात्माष्टक के प्राकृत मे निबद्ध होने से, ये सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश के समान अधिकारी विद्वान् प्रमाणित होते है।

कृतियों का परिचय

(i) **परमात्मप्रकाश**—इसके दो अधिकार है, प्रथम मे 126 व द्वितीय मे 219 (कुल 345) दोहे है। टीकाकार ब्रह्मदेव ने इनमे क्षेपक तथा स्थलसख्याबाह्यप्रक्षेपक भी सम्मिलित माने है। इनमे 7 पद्यो (5 गाथाये, 1 स्रग्धरा, 1 मालिनी) की भाषा अपभ्रंश नही है। योगीन्दु के अनुसार यह ग्रन्थ प्रभाकर भट्ट के अनुरोध पर 'परमात्मा' का स्वरूप बताने के लिए लिखा गया है (देखे परमात्मप्रकाश, 1/8-10, 2/211)।

इस ग्रन्थ पर ब्रह्मदेवसूरि विरचित सस्कृत टीका के अतिरिक्त आ० बालचन्द्र अध्यात्मी विरचित कन्नड टीका, कुक्कुटासन मलधारी बालचन्द्र विरचित अन्य कन्नड टीका, एक अज्ञातनामा (सभवत मुनिभद्रस्वामी के शिष्य) विरचित कन्नडटीका तथा प० दौलतराम जी कृत भाषा टीका (इन सबके परिचयार्थ देखे, परमात्मप्रकाश-योगसार की डॉ० उपाध्ये-विरचित प्रस्तावना का हिन्दी अनुवाद, पृ० 129-134)—ये टीकाएँ मानी गयी है। मुझे मूडबिद्री के ग्रन्थागार मे 'पद्मनन्दि-मुनीन्द्र' विरचित एक कन्नड टीका की प्रति प्राप्त हुई है, जिसके प्रारम्भ मे लिखा है —

> "पद्मनन्दि मुनीन्द्रेण, भावनार्य्याविबुद्धये।
> परमात्मप्रकाशस्य, रुच्यावृत्तिर्व्विरच्यते।।"

इस पद्य के अनुसार उक्त टीका का नाम 'रुच्यावृत्ति' तथा टीका का निमित्त 'भावना' नाम की कोई आर्या (कुलीन स्त्री अथवा साध्वी) को बताया है।

(ii) **योगसार**—इसमे 108 दोहे है, जिनमे एक चौपाई व एक सोरठा छन्द भी सम्मिलित है। इस ग्रन्थ पर प्राचीन टीकाओ का कोई उल्लेख नही मिलता। दो आधुनिक टीकाएँ प्रकाशित हुई है—जिनमे एक है ब्र० शीतलप्रसाद विरचित 'योगसार भाषा टीका', जो कि आचार्य अमृतचन्द्र स्मृति ग्रन्थमाला, सिवनी

(म०प्र०) से मार्च 1989 मे प्रकाशित हुई है। तथा दूसरी है प० पन्नालाल चौधरी विरचित 'योगसार वचनिका', जो कि गणेशवर्णी दि० जैन सस्थान से (1987 में) प्रकाशित है।

कुन्दकुन्द व पूज्यपाद के ग्रन्थो से निषेचित अध्यात्म को इन ग्रन्थो मे अधिक क्रान्तिकारी (आधुनिक भाषा मे आध्यात्मिक रहस्यवाद) बनाते हुए योगीन्दु ने ध्यान-योग व अध्यात्म की सुन्दर त्रिवेणी प्रवाहित की है।

(iii) **निजात्माष्टक**—इसमे प्राकृत के (स्रग्धरा-सदृश) आठ पद्यो द्वारा 'परमपदगत निर्विकल्प निजातमा' का नित्य ध्यान करने की भावना के साथ ध्यान व योग सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया है। इस पर अज्ञातकर्त्तृक (अभी तक अप्रकाशित) कन्नड टीका भी प्राप्त होती है, जो भाषा व शैली के आधार पर अमृताशीति के टीकाकार आ० बालचन्द्र अध्यात्मी से काफी साम्य रखती है।

इनमे से योगसार, अमृताशीति और निजात्माष्टक (तीनो मूलरूप मे) का प्रथम प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' पुस्तक प० पन्नालाल सोनी द्वारा सम्पादित होकर सन् 1922 ई० मे हुआ था। तथा परमात्मप्रकाश को सर्वप्रथम सन् 1909 मे देवबन्द के बाबू सूरजभान वकील ने हिंदी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया था। बाद मे परमात्मप्रकाश व योगसार के तो कई सस्करण अनेको विद्वानो व सस्थाओ ने प्रकाशित कराये हैं, किन्तु अमृताशीति व निजात्माष्टक अभी तक अनछुए रहे है।

(iv) **अमृताशीती का परिचय**—सस्कृत भाषा मे निबद्ध यह अस्सी (80) पद्यो वाला ग्रन्थ है, जैसा कि इसके नाम (अशीति=अस्सी) से भी स्पष्ट है। इसमे 8 पद्य (आगे देखें)ऐसे हैं, जो कि मूल मे 'उक्तञ्च' व 'तथा चोक्तम्' कहकर लिये गये हैं, किन्तु मूलग्रन्थ मे ही सम्मिलित कर लिए गए हैं, अन्यथा अशीति (80) सख्या की पूर्ति नही होती। टीकाकार ने भी इन पर अन्य पद्यो की ही तरह टीका करके इनके मूल मे समाविष्ट होने की पुष्टि की है।

इस ग्रन्थ को जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशकार (देखें, भाग-3, पृ० 386) व अन्य कुछ विद्वानो ने पता नही किस आधार पर 'अपभ्रंश भाषाबद्ध' बताया है, जबकि यह ग्रन्थ 1922 ई० मे ही मूलरूप मे प्रकाशित हो चुका था (देखे, सिद्धान्तसारादि-सग्रह)।

ग्रन्थ की शैली प्रसादगुणयुक्त तथा प्रवाहमयी है। 'भ्रात! सखे!' आदि सम्बोधनो से इसमे बातचीत रूप उपदेश जैसा पुट मिलता है, जो कि विषय प्रति-पादन को और अधिक जीवन्त बना देता है।

इस ग्रन्थ मे वसन्ततिलका (37 पद्य), मालिनी (29 पद्य), स्रग्धरा (6 पद्य), शार्दूलविक्रीडित (3 पद्य), शिखरिणी (1 पद्य), हरिणी (1 पद्य), उपजाति (1 पद्य),

मन्दाक्रान्ता (1 पद्य) तथा अनुष्टुप् (1 पद्य) इस प्रकार कुल मिलाकर नौ प्रकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है। साथ ही टीका मे टीकाकार रचित 2 'कन्द' पद्य (एक कन्नड छन्द) तथा एक शार्दूलविक्रीडित (कन्नड में) के अतिरिक्त टीका मे उद्धृत पद्यो के रूप मे एक प्राकृत गाथा छन्द है तथा दो सस्कृत अनुष्टुप् छन्द है। यदि मूलग्रन्थ मे उद्धृत पद्यो को अलग गिना जाये तो शिखरणी (62 वाँ) उपजाति (64वाँ) अनुष्टुप् (66वाँ) तथा मन्दाक्रान्ता (68वाँ) ये चार प्रकार के छन्द कम हो जायेगे, तब मूल ग्रन्थकार द्वारा पाच प्रकार के छन्दो का (वसन्ततिलका, मालिनी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित व हरिणी) प्रयोग किया कहा जा सकेगा।

अन्य ग्रन्थों में अमृताशीति के उद्धृत पद्य

अद्यावधि एकमात्र ग्रन्थ प्राप्त होता है जहाँ अमृताशीति के पद्य उद्धृत किये गये है, वह है प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द विरचित 'नियमसार' की पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित 'तात्पर्यवृत्ति' टीका। इसमे विभिन्न स्थलो पर अमृताशीति के कुल पाँच पद्य उद्धृत किए गए है, जिनका विवरण निम्नानुसार है —

(i) पद्य क्रमाक 19वाँ ("मुक्त्वाऽलसत्त्व · "इत्यादि) नियमसार के निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार की गाथा स० 104 की टीका मे पृ० 202 पर "तथा चोक्त योगीन्द्रदेवै" कहकर उद्धृत किया गया है।

(ii) पद्य क्रमाक 55वाँ ("स्वरनिकरविसर्ग·· "इत्यादि) नियमसार के शुद्ध भाव अधिकार मे गाथा 43 की टीका मे "तथा चोक्तममृताशीतौ" इस उक्ति-पूर्वक उद्धृत किया गया है।

(iii) पद्य क्रमाक 56वाँ ("ज्वर-जनन-जराणा· "इत्यादि) नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार मे गाथा 180 की टीका मे "तथा चोक्तममृताशीतौ" इस उक्तिपूर्वक उद्धृत किया गया है।

(iv) पद्यक्रमाक 57वाँ ("गिरिगहनगुहाद्या ·" इत्यादि) नियमसार के परमसमाधि अधिकार मे गाथा 124 की टीका मे "तथा चोक्तममृताशीतौ" इस वाक्याश के साथ उद्धृत किया गया है।

(v) पद्यक्रमाक 61वाँ ("यदि चलति कथचित् · " इत्यादि) नियमसार के निश्चयपरमावश्यक अधिकार मे गाथा 147 की टीका मे "तथा चोक्त योगीन्द्रदेवै" इस वाक्याश के साथ उद्धृत किया गया है।

वैसे ब्र० शीतलप्रसाद जी ने भी योगसार (योगीन्दुकृत) की भाषा टीका (दोहा 99, पृ० 282) मे अमृताशीति का 26वाँ पद्य (सत्साम्यभाव· ·) "श्री योगेन्द्रदेव अमृताशीति मे कहते है" इस वाक्यांश के साथ उद्धृत किया है,

किन्तु यह कोई निर्धारक व्यक्तित्व नही थे, फलत इनका मूलरूप मे मैंने उल्लेख नही किया ।

एक आपत्ति प० पन्नालाल सोनी (देखे, सिद्धान्तसाराविसग्रह, प्रस्तावना, पृ० 16) तथा डॉ० ए० एन० उपाध्ये (देखे, परमात्मप्रकाश-योगसार की प्रस्तावना का हिन्दी अनुवाद, पृ० 125) आदि विद्वानो ने उठायी है कि 'नियमसार गाथा 104 की टीका मे "तथा चोक्त योगीन्द्रदेवै 'कहकर' मुक्त्यगनालिमपुनर्भवसौख्यमूलम् · "इत्यादि पद्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने उद्धृत किया है, किन्तु यह पद्य अमृताशीति मे प्राप्त नही होता है ।' परन्तु यह पद्य तो टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा विरचित है, और उन्होने तथाहि—' कहकर वहाँ उल्लिखित किया है । हाँ, इसके ठीक पहले पूर्वोक्त उक्तिपूर्वक "मुक्त्वाऽलसत्त्व—" इत्यादि पद्य दिया गया है, जो कि अमृताशीति का 19वाँ पद्य है । सम्भवत· नियमसार टीका की जो प्रति उक्त विद्वानो के समक्ष रही होगी, उसमे उत्थानिका (तथा चोक्त योगीन्द्रदेवै) तो सही थी, किन्तु वास्तविक पद्य (मुक्त्वाऽलसत्त्व आदि) छूट गया होगा, फलस्वरूप वह पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित "मुक्त्यगनालि — "आदि पद्य की उत्थानिका बन गया । इस बात को बल डॉ० उपाध्ये के इस कथन से मिलता है कि "नियमसार टीका मे पद्मप्रभमलधारिदेव ने योगीन्दुकृत अमृताशीति के 57, 58 व 59 वें (वस्तुत. 56,57 व 58वे) ये तीन पद्य उद्धृत किये है ।" जबकि नियमसार टीका मे पूर्वोक्त पाँच पद्य उद्धृत है । अत "मुक्त्यगनालि ·" आदि पद्य किसका है—यह प्रश्न योगीन्दु के सन्दर्भ मे अप्रासगिक है । फलत प्रेमी जी, उपाध्ये जी व प० पन्नालाल सोनी का यह समाधान कि "सभवत योगीन्दु के अप्राप्त ग्रन्थ 'अध्यात्म-सन्दोह' का यह पद्य होगा" - भी स्वत निरस्त हो जाता है ।

मूलग्रन्थ में अन्य ग्रन्थकारो के उद्धृत पद्य

(i) पद्य क्र० 59वे ("अभिमतफलसिद्धे " इत्यादि) को टीकाकार ने विद्यानन्दिस्वामी विरचित कहा है, किन्तु आ० विद्यानन्दि ने भी इसे उद्धृत ही किया है (देखे, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० 17) । इस पद्य का अन्तिम चरण उन्होने अपने अन्य ग्रन्थ 'आप्तपरीक्षा' मे भी दिया है । इस पद्य को पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी नियमसार टीका (गाथा 6 की टीका, पृ० 16) मे 'तथा चोक्त विद्यानन्दिस्वामिभि.' कहकर उद्धृत किया है ।

(ii) पद्य क्रमाक 62 ("अहिंसाभूताना ··" इत्यादि) आचार्य समन्तभद्र की प्रसिद्ध कृति 'बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र (पद्य क्र० 119, 21/4) मे नेमिनाथ स्वामी की

स्तुति-प्रसग मे प्राप्त होता है। यह पद्य नियमसार (गाथा 56, पृ० 112) की टीका मे पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी "तथा चोक्त श्री समन्तभद्रस्वामिभि." कहकर उद्धृत किया है।

(iii) पद्य क्रमाक 64 ("अजगम जगमनेय···"इत्यादि) भी आचार्य समन्तभद्र कृत 'वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र' मे सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्वजिन की स्तुति के द्वितीय पद्य के रूप मे निबद्ध है।

(iv) पद्य क्रमांक 66 ("तावत्क्रिया प्रवर्तन्ते · "इत्यादि) को आ० जटासिंह नन्दि कृत कहकर यहाँ उद्धृत किया गया है। परमात्मप्रकाश के सस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव ने भी इसे उद्धृत किया है (देखें, परमात्मप्रकाश 2/23 की टीका, पृ० 140), किन्तु वहाँ किसी का नामोल्लेख नही किया गया है। आ० जटासिंहनन्दि के एक मात्र प्राप्त ग्रन्थ 'वरागचरितम्' मे यह पद्य नही है। इस बारे मे 'वरागचरितम्' के सम्पादक डॉ० ए० एन० उपाध्ये (देखे, वरागचरितम्, अग्रेजी प्रस्तावना, पृष्ठ 24) तथा प्रख्यात मनीषी डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री (देखे, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-2 पृ० 295) ने अमृताशीति मे उद्धृत प्रस्तुत पद्य के बारे मे लिखा है कि 'सम्भवत आचार्य जटासिंहनन्दि की अन्य कोई कृति योगीन्दु के समक्ष रही होगी, जिसमे से उन्होने यह पद्य उद्धृत किया है।

(v) पद्य क्रमाक 68 ("साहकारे मनसि न शम " इत्यादि) को टीकाकार ने अकलकदेव विरचित कहा है, किन्तु ये कौन-से अकलक है? ठीक-ठीक नही कहा जा सकता है। क्योकि अकलक नाम से कई आचार्य हुए है, तथा प्रसिद्ध आचार्य भट्टाकलकदेव के उपलब्ध साहित्य मे यह पद्य कही भी प्राप्त नही हुआ है।

(vi) पद्य क्रमाक 70("यो लोक ज्वलत्यनल्पमहिमा·· "इत्यादि) को टीकाकार ने कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत कहा है, परन्तु प्राप्त कुन्दकुन्द साहित्य मे यह कही भी उपलब्ध नही होता है। आ० विद्यानन्दि ने भी अपने 'आप्तपरीक्षा' ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका (कारिका 86, पृ० 202) मे इसे उद्धृत किया है, किन्तु कर्त्ता का नामोल्लेख उन्होने वहाँ नही किया है। यदि यह पद्य प्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द का होता तो वे उनका सादर नामोल्लेख अवश्य करते।

(vii) पद्य क्रमाक 77 ("दत्त पद शिरसि "इत्यादि) को टीकाकार ने भर्तृहरि-रचित बताया है। यह पद्य भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' (186, 3/39) से उद्धृत है। यहाँ प्रारम्भ के दो चरण आगे-पीछे है, वैराग्यशतक मे वे इस प्रकार हैं—

"प्राप्ता· श्रिय सकलकामदुघास्तत: किम् ।
दत्त पदं शिरसि विद्विषतां तत· किम् ।।"

यह पद्य ज्ञानार्णव (4/58 1) मे भी किंचित् पाठान्तर के साथ उद्धृत किया गया है।

(viii) पद्य क्रमांक 78 ("तस्मादनन्तमजर ··") भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतक' (183, 3/40) में तथा किंचित् पाठान्तर के साथ 'ज्ञानार्णव' (4/58 के बाद प्रक्षिप्त द्वितीय पद्य) मे भी प्राप्त होता है।

अमृताशीति की टीका में उद्धृत पद्य

(i) प्रथम पद्य की टीका मे 'ओकार' का विश्लेषण करते समय "अरहंता-असरीरा · "इत्यादि गाथा प्रस्तुत की गई है। यह गाथा 'समणसुत्त' मे (पद्य क्र० 12) प्राप्त होती है, किन्तु 'समणसुत्त' अपने आप मे सग्रह ग्रन्थ है, तथा यह गाथा सग्रहकर्त्ता ने कहाँ से ली है—इसका सन्दर्भ न तो समणसुत्त मे प्राप्त होता है, और काफी प्रयत्नो के बाद भी मुझे भी इसका मूल उत्स ज्ञात नही हो सका है।

(ii) पद्य क्रमाक 6 के भावार्थ मे टीकाकार ने "प्रणमत्युन्नतिहेतो·· " इत्यादि पद्य प्रस्तुत किया है, जो कि 'हितोपदेश' नामक ग्रन्थ से उद्धृत (2/27) है। यह पद्य 'सुभाषितरत्न भाण्डागार' के पृ० 9 पर भी उपलब्ध है। इस पद्य के रचयिता नारायण पडित है।

(iii) पद्य क्रमाक 16 के भावार्थ मे टीकाकार द्वारा उद्धृत "चक्खुस्स दसणस्य य· " इत्यादि प्राकृत गाथा आचार्य शिवकोटि (या शिवार्य) प्रणीत 'भगवती आराधना' ग्रन्थ से उद्धृत (12वी गाथा) है।

(iv) पद्य क्रमाक 59 के भावार्थ मे टीकाकार ने "स्वस्मिन् सदभिलाषित्वात् · "इत्यादि पद्य उद्धृत किया है। यह पद्य आचार्य पूज्यपाद विरचित 'इष्टोपदेश' से उद्धृत (पद्य स० 34) है।

अमृताशीति के टीकाकार

'अमृताशीति' ग्रन्थ पर अभी तक एक मात्र टीका प्राप्त हुई है, जो कि प्रस्तुत सस्करण मे प्रकाशित है। ग्रन्थ की प्रशस्ति मे दो पद्यो के द्वारा टीकाकार ने अपना नाम 'व्रतीश (आचार्य) बालचन्द्र अध्यात्मी' तथा अपने गुरु का नाम 'सिद्धान्तचक्रेश्वर-चारित्रचक्रेश्वर नयकीर्तिदेव' बताया है (देखे प्रशस्ति)।

सिद्धान्तचक्रवर्ती नयकीर्तिदेव मूलसघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ व कुदकुदान्वय के आचार्य गुणचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य थे। इनकी शिष्यमण्डली मे मेघचन्द्रव्रतीन्द्र, मलधारी स्वामी, श्रीधरदेव, दामनन्दि त्रैविद्य, भानुकीर्ति मुनि, बालचन्द्र अध्यात्मी, माघनन्दि मुनि, प्रभाचन्द्र मुनि, पद्मनन्दि मुनि और नेमिचन्द्रमुनि के नाम मिलते है। इनका स्वर्गवास शक सवत् 1099 (सन् 1177) मे वैशाख शुक्ल चतुर्दशी, शनिवार को हुआ था। (देखे, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास प० परमानन्द शास्त्री पृ० 373)। श्रवणबेलगोल के बीसो शिलालेखो मे इनकी व इनके शिष्यो की प्रशसा प्राप्त होती है। महामत्री हुल्ल नागदेव आदि शिष्यो ने इनकी स्मृति मे जो स्तम्भ स्थापित किया था, वह चन्द्रगिरि पर्वत पर आज भी विद्यमान है। नयकीर्तिदेव के शिष्यो मे बालचन्द्र अध्यात्मी प्रमुख थे। (देखे, वीरशासन के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ 107)।

नयकीर्तिदेव के शिष्य दामनन्दि, बालचन्द्र अध्यात्मी के भाई थे। आ० बालचन्द्र अध्यात्मी के स्तुतिपरक पद्य अनेको शिलालेखो मे पाये जाते है। (देखे, जैन शिलालेख सग्रह)। इनके बारे मे यह अद्भुत तथ्य है कि गुरु-परम्परा सिद्धान्तवेत्ताओ की रही, किन्तु इनका रस-परिपाक अध्यात्म मे इतना हुआ, कि इन्होने अपना उपनाम 'अध्यात्मी' रख लिया। तदनुरूप ही इनकी प्राय. समस्त रचनाये आध्यात्मिक ग्रन्थो पर टीका के रूप मे प्राप्त होती है। आ० कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय के अतिरिक्त, तत्त्वार्थसूत्र (तत्त्वरत्न प्रदीपिका) व परमात्मप्रकाश पर इन्होने जो टीकायें लिखी है, वे सभी अध्यात्मरस से ओतप्रोत तथा अमृताशीति के समान पद-व्याख्या-शैली मे निबद्ध है। समयसार की टीका के अन्त मे उन्होने निम्नलिखित गद्यवाक्य दिया है—"**इति समस्तसैद्धान्तिकचक्रवर्तीश्रीनयकीर्तिनन्दन-विनेयगणानन्दन - निजरुचिसागरनन्दि परमात्मदेवसेवासाधितात्मस्वभाव-नित्यानन्द-बालचन्द्रदेवविरचिता समयप्राभृत-सूत्रानुगता-तात्पर्यवृत्ति**"।

तत्त्वार्थसूत्र की 'तत्त्वरत्नप्रदीपिका टीका' उन्होने कुमुदचन्द्रभट्टारक के प्रतिबोधनार्थ बनायी थी (देखे, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास प० परमानन्द शास्त्री, पृष्ठ 333)। तथा अमृताशीति की प्रस्तुत टीका रचना उन्होने 'चन्द्रप्रभार्य' के निमित्त की थी (देखे, प्रशस्ति, पद्य-2)।

आपके द्वारा विरचित समस्त टीकाये कन्नड भाषा मे है, किन्तु जिन ग्रन्थो पर आपने ये टीकायें लिखी है, वे सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रश तीनो भाषाओ मे है। अत स्पष्ट है कि इन तीनो भाषाओ के भी आप अधिकारी विद्वान् थे। विषय के विशद विवेचन को देखते हुए सिद्धान्त एव अध्यात्म—दोनो विषयो मे आपकी विद्वत्ता असन्दिग्ध है ही।

आपका स्थिति-काल ईस्वी की बारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

अमृताशीति की दार्शनिक समीक्षा

अमृताशीति मे दार्शनिक दृष्टि से भी कई महत्त्वपूर्ण तथ्यो की उपलब्धि हुई है, जो योगीन्दु-साहित्य को व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। इनमे से कतिपय प्रमुख बिन्दुओ पर विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

1 **पुण्य-विवेचन**—सामान्यत सभी जैन अध्यात्म-ग्रन्थो मे पुण्य और पाप-दोनो को आस्रवबन्ध तत्त्वो के अन्तर्गत होने से ससार का कारण मानकर हेय व तुच्छ प्रतिपादित किया गया है। योगीन्दु का दृष्टिकोण भी इस अवधारणा से भिन्न नही रहा है। वे स्पष्टत कहत है कि 'जो पुण्य को भी पापरूप (हेय) मानता है, वही ज्ञानी है (योगसार, दोहा-71)। अमृताशीति मे भी मूल दृष्टि-कोण यही रहते हुए भी भाषा तथा विषय-प्रतिपादन शैली मे नितान्त नवीनता के दर्शन होत है। सामान्य मानव-मनोविज्ञान के अनुरूप मनुष्य की भौतिक साधनो की प्राप्ति की अभिलाषा रूप कमजोर नस को पकडते हुए योगीन्दुदेव उससे पूछते है कि "हे भाई! तुम सुबह-सुबह किस कार्य मे अत्यन्त व्यस्त मालूम पड रहे हो? यदि तुम्हारी व्यस्तता धन-प्राप्ति के लिए है, तो जान लेना कि वही धन सार्थक है, जो सुख-शान्ति दे सके। और ऐसे धन की प्राप्ति पुण्योपार्जन के बिना नही हो सकेगी' (अमृताशीति, पद्य-2)। इस प्रकार उसे आकर्षित कर अपने पास बुलाते है और समझाते है कि "कोरे बाह्य-परिश्रम व लम्बी-चौडी योजनाये बनाने से धन नही मिलता है। यदि ऐसे ही धन की प्राप्ति होती हो तो सारे किसान-मजदूर धनवान् होते। अत तुम 'धन की प्राप्ति का वास्तविक साधन पुण्य ही है'—ऐसा जानो" (वही, पद्य 4)। बाह्य परिश्रम के प्रति वे कहते है कि "जो खेती-बाडी आदि कार्य तुम करते हो, क्या ये बहुत कष्टप्रद नही होते हैं? अरे भाई! करना ही है तो ऐसा धन प्राप्त करो, जिससे सुख मिले—यही बुद्धिमत्ता का परिचायक होगा" (वही, पद्य 5)—इत्यादि प्रेरक वचनो से ससारी प्राणी को धनार्जन के बाह्य पापरूप उपक्रमो से विरत करके उसे पुण्य करने की प्रेरणा देते है, जो कि "अशुभस्य वचनार्थम्···" की अत्यन्त प्रभावी प्रस्तुति है। आगम साक्षी है कि अशुभ परिणामो मे तो धर्म की चर्चा कभी कार्यकारी हो ही नही सकती है, उसके लिए तो जीव के परिणामो का प्रशस्त (शुभ) रूप होना अत्यन्त आवश्यक है, यह जीव की प्राथमिकता पात्रता है।

पूर्वोक्त प्रकार से जीव मे पात्रता प्रकट कर जीव को वे सम्बोधित करते हैं

कि—"हे जीव ! प्रशस्त भावो को पाकर भी तुम धन-सम्पदारूप लक्ष्मी की चाह करते हो, तो क्या कभी तुमने इस चचला लक्ष्मी के स्वरूप पर भी विचार किया है ? जिस लक्ष्मी की प्राप्ति के निमित्त सेवकवृत्ति (नौकरी) अपनाने पर दुत्कार व फटकार सुननी पडती है और अपार मानसिक व शारीरिक कष्ट भोगना पडता है, इतने कष्ट भोगने के बाद भी वह लक्ष्मी यदि तुम्हारे पास स्थायी रूप से नही रहती, तो तुम्हारे इतने श्रम का क्या फल निकला ? (वही, पद्य 6)। वे आगे कहते हैं कि "इस चचला लक्ष्मी की तो प्रकृति ही ऐसी है कि यह कभी भी सत्पात्र मे स्थिर प्रीति नही करती है (वही, पद्य 7)। यदि ऐसा नही है, तो इसने रत्नाकर समुद्र, कामदेव व इन्द्र जैसे श्रेष्ठ पात्रो का साथ छोडकर कृष्णलेश्यावान् जीवो का साथ क्यो ग्रहण किया हुआ है ? (वही, पद्य 8)। जिस लक्ष्मी ने महान् बलवान, शीतलस्वभावी समुद्र का साथ मात्र अपनी चचल प्रकृति के कारण छोड दिया हो, यदि आज के कथाकथित बुद्धिमान् लोग भी उस लक्ष्मी का साथ चाहकर फिर दुःख की ज्वाला मे जलते है तो इससे अधिक विडम्बना की बात और क्या होगी ? (वही, पद्य 9)। अत हे जीव ! यदि तुम प्रशस्त भावो को प्राप्त कर ज्ञानी गुरु की शरण मे आ ही गये हो, तो चपला व दुश्शीला लक्ष्मी की आकाक्षा छोड दो, तथा विचार करो कि इन बाह्य भौतिक ससाधनो की प्राप्ति और उनके भोग मे जो अत्यल्प सुखाभास मिलता है, वह तो क्षणिक है ही, साथ ही उनके निमित्त किये गये आर्त्त-रौद्र ध्यानो के कारण प्राप्त होने वाला जो दुःख है, वह अनन्त है। अत. हे विज्ञ पुरुष ! तुम आधि-व्याधि-उपाधि से रहित निजज्ञापक परमात्मा मे ही निर्बाधसुख की प्राप्ति करो। जब अपने मे ही सुख प्राप्त होता है, तब इन निकृष्ट विषयो के प्रति ममत्व क्यो है ? इसे तुम तुरन्त छोड दो (वही, पद्य 11)।

इसके बाद वे स्वानुभूतिजनित आनन्द की अपार महिमा का स्तुतिगान (वही, पद्य 12) करके शिष्य को शुद्धस्वरूप मे प्रविष्ट होने के लिए मानसिक रूप से तैयार करते हैं। इस प्रकार जीव को अशुद्ध से हटाकर, विशुद्ध (शुभ) मे लाकर शुद्ध मे ले जाने की प्रक्रिया का सुन्दरतम निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किया है, जिसमे पुण्य की उपयोगिता व हेयता—दोनो का अनुपम विवेचन समाहित है।

2 समता-विवेचन—पूर्वोक्त पुण्य विवेचन तथा स्वरूप-प्रेरणा के उपरान्त शिष्य को जिज्ञासा हुई कि 'ऐसा अनन्त सुख का निधान स्वय होते हुए भी यह जीव ससार मे क्यो भटका ?' इसके उत्तरस्वरूप उन्होने ससार-परिभ्रमण का कारण 'अज्ञान व मोह का तीव्र प्रकोप' (13वे से 17वे पद्य तक) विशदरीत्या प्रतिपादित किया है। साथ ही, जीव कही मोह की भयकरता से आक्रान्त न हो जाये, इसलिए तुरन्त आश्वस्त भी करते है कि यह मोह कितना भी प्रबल क्यो

न हो, किन्तु निजात्मतत्त्व का अनुसरण करने वाला परिणाम अकेला ही समस्त मोहसेना का क्षण भर मे विनाश कर सकता है। अत हे जीव! तुम मोह की विकरालता से भयभीत मत होओ (वही, पद्य 18)। इसी प्रसंग मे मोह के विनाश के लिए अचूक ब्रह्मास्त्र के रूप में योगीन्दुदेव ने 'समता' की प्रतिष्ठापना की है।

'समता' के निश्चय-व्यवहार—दोनो रूपो को योगीन्दुदेव ने निश्चय-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के साथ ही विशेष महत्त्वपूर्ण माना है (वही, पद्य 20); (इस प्रकार रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की स्थापना की है); और इसका फल मोह का उपमर्दन तथा त्रिभुवन-आधिपत्य प्रदर्शित किया है। अत्यन्त प्रभावशाली कामशत्रु के विनाश के लिए मोक्षमहल की सोपानभूत समता की अपरिहार्यता का जोरदार समर्थन योगीन्दुदेव ने प्रस्तुत किया है (वही, पद्य 21-22)। वे कहते है कि "यदि सुख की वास्तव मे इच्छा है, तो रागादि का अशन (भक्षण)/विनाश करने वाली समता की हृदय मे प्रतिष्ठापना करो (पद्य 23), क्योकि इस समता की कृपा से ही इस कामाग्नि से जलते हुए विश्व के बीच मे यतिवर शीतल निर्मलानन्द की अनुभूति करते है (पद्य 24)।" इतना ही नही, मैत्री-कृपा-प्रमुदिता आदि भावनाओ को समता की 'सखि-भावनाएँ' बताते हुए इनसे युक्त समता को अगीकार करने पर विश्वबन्धुत्व के प्रसार की निश्चितता प्ररूपित की है (पद्य 25)।

योग-विवेचन—समता की महत्ता के प्रतिपादन के उपरान्त योगीन्दुदेव ने जीव को योगसाधना के मार्ग पर अग्रसरित होने की प्रेरणा देते हुए निश्चय-व्यवहार योगसाधना-पद्धति का सन्तुलित व मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

योगसाधना-विवेचन मे प्राथमिक आवश्यकता के रूप मे उन्होने गुरु की महत्ता अनेकत्र प्रतिपादित की है। उन्होने प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ से लेकर गणधरदेव, श्रुतकेवली आदि की परम्परा मे आगत श्रुतधारक साधुपरम्परा को गुरु-परम्परा मे समाहित किया है (पद्य 58) तथा उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मैं जो भी आत्मध्यानसाधना अथवा योगसाधना का कथन कर रहा हूँ, वह मुझे गुरुपरम्परा से प्राप्त हुए ज्ञान पर आधारित है (पद्य 34, 53)। इसी क्रम मे उन्होंने सच्चे गुरु का स्वरूप बताते हुए कहा है कि वस्तुत शुद्धात्मतत्त्व के अनुभवी ज्ञानी गुरु ही पूजनीय है (पद्य 58)।

वे कहते हैं कि अज्ञानी जीव अपार दुखो को तो सह लेता है, किन्तु ज्ञानी गुरु की आज्ञा को नही मानता है (पद्य 41)। हे जीव! यदि तुम्हे सुखी होना है तो तुम गुरुओ के चरणो की निरन्तर आराधना करो (पद्य 22), उनके चरण-कमलो की सेवा के प्रसाद से ही इसी शरीर मे तुम्हे शुद्ध, निरजन परमात्मतत्त्व

की प्राप्ति होगी (पद्य 56)। सच्चे गुरु के उपदेश के बिना जीव का चित्त मोह-ग्रस्त होता है, तथा वह रागी देवी-देवताओ की भक्ति करने लगता है (पद्य 38) और गृहीत मिथ्यात्व का पोषण कर कुगति मे परिभ्रमण करता है। वे स्पष्ट कहते है कि बाहरी तीर्थों मे भ्रमण से, जप-तप-होम-अनुष्ठान आदि बाह्याचरण से शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति होने वाली नही है, अत हे भव्य जीव! तुम ज्ञानी गुरु की शरण मे जाकर इनसे भिन्न कोई साधन खोजो (पद्य 57), ताकि तुम्हे शुद्धात्म-तत्त्व की प्राप्ति होकर अनन्त सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो सके।

इस प्रकार ध्यान व योगसाधना के लिए आत्मज्ञानी गुरु के मार्गदर्शन की अपरिहार्यता का निर्देश करने क साथ-साथ उन्होने जीव की भावभूमि तैयार करने के निमित्त ससार की दु खमयता व शरीर की अशुचिता का भी वर्णन अमृताशीति मे यत्र-तत्र किया है।

वे भव्यो को सावधान करते हुए कहते है कि यह मनुष्य-जन्म पाकर तथा श्रेष्ठ तत्त्व का श्रवण करके भी तुम प्रमाद आदि कारणो से शुद्ध तत्त्व मे प्रवृत्ति नही करते हो। अरे! तुम इस शुद्ध तत्त्व की उपेक्षा करके अज्ञान व मोह से ग्रस्त, जन्म-मरण के दु खो को मजबूरन सहन करने वाले असज्ञी जीवसमूह की दुर्दशा तो देखो; यह सम्पूर्ण विश्व अनर्गल प्रलाप करता हुआ दु खी होकर तुम्हारे सामने पडा है (पद्य 15-16), इस दु खाग्नि मे जलते हुए लोक को देखकर तुम जरा भी कपित नही होते हो, अरे! तुम्हे तो अपने परिणामो की कठोरता पर रोना चाहिए, परन्तु खेद है कि तुम (जरा सी भौतिक अनुकूलता प्राप्त कर) उछल-कूद कर रहे हो (पद्य 17)। वे आगे कहते है कि इस कामाग्नि की भट्टी मे मात्र कौतूहल की पूर्ति के निमित्त यह सम्पूर्ण विश्व उबल रहा है, जल रहा है (पद्य 24), और अपार दु ख उठा रहा है, फिर भी ज्ञानी गुरु की शरण मे जाकर शुद्धात्म-तत्त्व की महिमा स्वीकार नही करता है (पद्य 41)। अरे भाई! यह भोग सामग्री तो निकृष्ट प्राणियो के भी पायी जाती है (पद्य 78) तथा इसकी प्रचुरता होने पर भी 'यह मिल भी गयी तो क्या हो गया', अर्थात् सुख नही मिला—ऐसी भोगो की निस्सारता की प्रतीति बनी रहती है (पद्य 76-77)। अत हे भाई! इस लोक मे नवीन-नवीन शरीर को धारण करने व छोडने से तथा हर तरह के भोगो का भोगकर (निराश होकर) छोडने से यदि तुम्हे विरक्ति जगी हो, तो इस शुद्धात्मतत्त्व रूपी महासागर मे प्रविष्ट हो जाओ (पद्य 74)।

ससार की दु खमयता के साथ-साथ शरीर की अशुचिता का वर्णन भी आ० योगीन्दु देव ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी भाषा मे किया है। वे कहते है कि 'अशुचि पदार्थों की बात तो दूर रही, शुचि पदार्थ भी इस शरीर का सयोग होते ही मानो

नरकत्व को प्राप्त हो जाते हैं (पद्य 14), ऐसे बाहर और भीतर से अत्यन्त निस्सार, दुःखदायक व विनाशीक शरीर मे मोहवश अज्ञानी जीव रमते हैं, यह अत्यन्त खेद की बात है (पद्य 63)। हे भव्य जीवो ! तुम इस भयकर रोगों के पिंड शरीर में मत रमो (पद्य 43), तथा इस कफ-पित्त आदि गन्दगियो के ढेर शरीररूपी नरकगृह से यदि घृणाभाव जगा हो, तो निजनिरजन सर्वोत्कृष्ट परमात्मतत्त्व का चिंतन करो (पद्य 42)।

इस प्रकार के वैराग्य के प्रसग यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। ये ध्यान-योग की पात्रता निर्माण-हेतु प्रासगिक तो है, किन्तु ग्रन्थ की मूल विषयवस्तु नही हैं। मूल विषय-वस्तु मे तो समता-विवेचन के उपरान्त आ० योगीन्दुदेव ने धर्मध्यान का कथन आरम्भ किया है, जिसके अन्तर्गत पद्य क्र० 27 से 36 तक व्यवहार धर्मध्यान की एक अवस्था साक्षर धर्मध्यान का कथन किया है। इसमे 'अर्हं' इस दो अक्षर वाले तथा 'ह्रँ' इस एक अक्षर वाले मत्रो के माध्यम से धर्मध्यान का उपदेश दिया है। पद्य क्र० 37 मे 'धर्मध्यानमवादि-साक्षरमिदम्' कहकर साक्षर धर्मध्यान का उपसहार किया है और उसी पद्य मे 'सूक्ष्म किंचिदतस्तदेव विधिना सालम्बन कथ्यते' कहकर सालम्बन धर्मध्यान की उत्थानिका प्रस्तुत की है। यह सालम्बन धर्मध्यान भ्रूभग आदि शरीर प्रदेशो के आलम्बनपूर्वक 52वे पद्य तक विशदरीत्या व्याख्यायित है। 53वे पद्य में सम्पूर्ण व्यवहार धर्मध्यान का उपसहार 'इति निगदितमेतद्देशमाश्रित्य किंचित्' कहकर किया है तथा व्यवहार धर्मध्यान के उपदेश की प्रामाणिकता का आधार गुरुपरम्परा व गुरुओ द्वारा प्रणीत शास्त्रो को 'गुरुसमयनियोगात्' कहकर प्ररूपित किया है। इन 27वें से 52वे तक के पद्यो मे व्यवहार धर्मध्यान के अन्तर्गत योगशास्त्रीय व हठयोग आदि की प्रचलित शब्दावली का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु उनका जैनशास्त्रानुरूप कथन व व्याख्यान (टीका) किया गया है। (इस बारे मे इन पद्यो के 'विशेष' शीर्षक के अन्तर्गत दिए गये विवरण द्रष्टव्य है)।

इन पद्यो मे जैन योगशास्त्रो मे प्रथम बार 'नाद-प्रक्रिया' का अतिविशद किंतु पूर्णतया आध्यात्मिक विवेचन प्राप्त होता है। इस प्रसग मे योगीन्दुदेव ने 'अनाहत नाद' के चार भेदो (कोकिलनाद, मेघनाद, नदीघोषनाद व समुद्रघोषनाद), उनके उत्पत्ति कालक्रम (पद्य 46) आदि का वर्णन किया है, जो कि प्राय सम्पूर्ण जैन व जैनेतर योग-शास्त्रीय विवेचन मे अद्वितीय व नितान्त मौलिक है। इन नादो के शारीरिक उत्पत्ति स्थानो (पद्य 47, 49) व बाह्य शारीरिक निरोगता आदि फलो (पद्य 48, 49) का भी वर्णन योगीन्दुदेव ने सक्षिप्तरीत्या किया है, जो कि अन्यत्र भी कुछ फेरबदल के साथ प्राप्त होता है। किन्तु उन्होंने निष्कर्षत यह कहकर सावधान भी किया है कि हे साधक ! यद्यपि तुम्हे बाह्य उपलब्धि रूप अनेको

सिद्धियाँ इस प्रक्रिया से प्राप्त होंगी, परन्तु उनमे कतई विस्मय नही करना (परिहरतु नितान्त विस्मय हे यतीश !) तथा तिनके की नोक पर स्थित जलबिन्दु के समान इन क्षुद्रसिद्धियो को अपनी उपलब्धि मानकर सन्तुष्ट भी मत हो जाना (तृणजललवतुल्यै किं फलै क्षौद्रसिद्ध्यै), क्योकि इन सिद्धियो का आकर्षण तुम्हे आत्मध्यान से विमुख कर देगा।

'अनाहत नाद' के निश्चयस्वरूप को टीकाकार ने 'परमपारिणामिक भावरूप अनाहत' (पद्य 36) तथा 'निर्विकल्प समाधिरूप अनाहत' (पद्य 35) के रूप मे परिभाषित किया है। और इसे केवलज्ञानोत्पत्ति के समय दिव्यध्वनि का कारण बताया है (पद्य 49)। साथ ही, इस निश्चय अनाहत के ध्यानाभ्यास को केवल-दर्शन-केवलज्ञानरूप मानकर (पद्य 51) साक्षात् मोक्ष का कारण माना है (पद्य 50)।

इस योगसाधना (व्यवहार धर्मध्यान) के प्रसग (अर्थात् 27वें मे 33वें पद्य तक) मे तथा इसके बाद आ योगीन्द्रदेव ने अनेकत्र योगसाधना व आत्मसाधना को अभिन्न रूप मे परिभाषित व व्याख्यायित किया है। वे कहते हैं कि (बहिर्मुखी वृत्ति होने के कारण) देही (ससारी जीव) देह मे दर्शन ज्ञान-स्वभावी आत्मा की विद्यमानता होते हुए भी उसे नही देख पाते है (पद्य 58), अत हे जीव ! यदि तुम अजर, अमर, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य के स्थान निजस्वरूप को प्राप्त करना चाहते हो तो अपने उपयोग को निर्विकल्प करके अन्तर्मुखी करो (पद्य 43) और निज परमात्मरूप का अन्तर में ध्यान करो, जिससे तुम समाधि के सुख को प्राप्त कर सकोगे (पद्य 26)। यदि तुम्हे अपार ससार परिभ्रमण से वस्तुत. थकान लगी हो तो इस निर्विकल्प समाधिरूपी शय्या पर विश्राम-लाभ करो (पद्य 35)। क्योकि यदि तुम्हारा चित्त निजस्वरूप से किंचित्मात्र भी चलायमान होकर पर में परिभ्रमण करेगा तो कोई भी ऐसा सासारिक दोष शेष नही रहेगा, जो तुम पर लागू न हो सके। अत तुम निरन्तर निजस्वरूप मे अन्तर्मग्न रहो और भवान्तस्थायी मोक्षधाम के अधिपति बन जाओ (पद्य 61)। इस निमित्त तुम बाह्य क्रियाओ से बस करो और समस्त क्रियाओ व विकल्पो से रहित होकर निर्मल, एक व निष्कल आत्मतत्त्व को भजो, इसी से तुम्हे समाधि का सत्फल प्राप्त हो सकेगा (पद्य 63)। जीव तभी तक दु खी रहता है, जब तक कि वह निज-निष्कल परमात्मतत्त्व का सम्यक् उपदेश प्राप्त कर उसमे लीन नही हो जाता (पद्य 72)।

इस योगसाधना या आत्मसाधना के क्रम में निश्चय-रत्नत्रय अर्थात् आत्म-श्रद्धान—सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान—सम्यग्ज्ञान तथा आत्मलीनता—सम्यक्चारित्र का सुन्दर निरूपण (पद्य 60) करते हुए कहा है कि इन्द्रियज्ञान अमूर्तिक आत्मा को नही जान सकता है, तथा शास्त्र (श्रुत) जन्य ज्ञान भी स्वरूप का अस्पष्ट अवभास

मात्र करता है, अत. दोनो प्रकार की बुद्धियों का आश्रय छोडकर निर्विकल्प प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा अपना स्वरूप जानकर उसमे रम जाना चाहिए, जम जाना चाहिए, ताकि अविनाशी मोक्षधाम की प्राप्ति हो सके (पद्य 71)। इस योग-विवेचन की चरमता को स्पर्श करते हुए टीकाकार आचार्य ने 'योग' शब्द की परिभाषा ही (पृथकत्व वितर्क) द्वितीय शुक्लध्यान नामक वीतराग निर्विकल्प समाधि बताई है।

इस प्रकार समग्रत यह ग्रन्थ योग के आध्यात्मिक विवेचन का उत्कृष्टतम निदर्शन बन गया है।

इस ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य बालचन्द्र अध्यात्मी ने भी इसकी व्याख्या की शैली भले ही सरल रखी है, किन्तु उन्होने अध्यात्मपरक विवेचन व विषय के साथ निश्चय-व्यवहार-दृष्टि का सन्तुलन बनाते हुए भरपूर न्याय किया है और उसे व्याख्या-विधि की उत्कृष्टता का सुन्दर निदर्शन बना दिया है। साथ ही उन्होने ग्रन्थकार आचार्य योगीन्दुदेव के अन्य ग्रन्थो मे आगत अभिप्रायो और सन्दर्भों को भी ध्यान मे रखकर व्याख्या की है, जिससे उसमे सटीकता आ गई है, तथा ग्रन्थ-कर्त्ता के मूल अभिप्राय के साथ न्याय हो मका है। उदाहरण के तौर पर, पद्य क्र 68 मे जिनेन्द्रदेव को ग्रन्थकार ने 'नैरात्मवादी' कहा है। इसमे अन्य अध्यात्म ग्रन्थो के आधार पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि 'इन्द्रियो, मन व रागादि-विकल्पो को व्यवहारदृष्ट्या 'आत्मा' सज्ञा क्वचित् दी गयी है, उन सबसे रहित शुद्धात्मतत्त्व का कथन करने से जिनेन्द्रदेव नैरात्मवादी सिद्ध होते है। किन्तु टीकाकार ने 'नैरात्मवादी' पद का अर्थ 'शून्यवादी' किया है। सामान्यत तो शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध है, फिर जैन कैसे शून्यवादी हो गये? समाधान योगीन्दुदेवकृत परमात्मप्रकाश (1/55) मे प्राप्त हुआ, वहाँ अष्टविधकर्म व अष्टादश दोषो से रहित आत्मा को 'शून्य' कहा गया है। तदनुसार आठकर्म-अट्ठारह दोषो से रहित शुद्धात्मतत्त्व का कथन करने वाले जिनेन्द्रदेव के समान दूसरा कौन शून्यवादी हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि टीकाकार ने मूल ग्रन्थ-कार के समग्र अभिप्राय व अन्य कथनो को ध्यान मे रखकर व्याख्यान किया है। उनके योगशास्त्रीय विवेचन के प्रसगो में विशद योगशास्त्रीय ज्ञान व अध्यात्म रसिकत्व की स्पष्ट छाप है, जो उनके 'अध्यात्मी' उपनाम को सार्थक सिद्ध करती है।

इस प्रकार मूलग्रंथकार व टीकाकार की आदर्श युति ने इस ग्रन्थ को योग और अध्यात्म की अभिनव ऊँचाइयाँ प्रदान की है और जैन योगशास्त्र एवं अध्यात्म-शास्त्र के क्षेत्र मे अभूतपूर्व योगदान किया है।

विषयानुक्रम

ध्यान-योग विवेचन

श्रीमद्योगीन्दुदेव-विरचिता

अमृताशीतिः

टीकाकार का प्राक्कथन—

भूतार्थवाच्यनं वि-
ज्ञातजगत्त्रयननरहन नेनेदां चि-
ज्ज्योतिरूपमनमृता-
शीतिय कर्नाटवृत्तिय विरचिसूवें ॥

खण्डान्वय—भूतार्थवाच्यन=शुद्ध आत्मतत्त्व ही जिनका प्रतिपाद्य है (तथा) विज्ञातजगत्त्रयन=तीनो लोको को जिन्होने जान लिया है (ऐसे) अरहन=अरहन्त परमात्मा का, नेनेदा=स्मरण करके, चिज्ज्योतिरूपम=चैतन्यज्योतिरूप, अमृताशीतिय='अमृताशीति' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ की, कर्नाटवृत्तिय=(कन्नड भाषामयी टीका) कर्नाटवृत्ति, विरचिसुवे=लिखता हूँ ।

विशेष—सिद्धान्तचक्रवर्ती नयकीर्तिदेव के शिष्य 'अध्यात्मी' मुनि बालचन्द्र ने देवाधिदेव अर्हन्त परमात्मा के पावन गुणस्तवनपूर्वक आचार्य योगीन्दुदेव विरचित 'अमृताशीति' नामक ग्रन्थ पर कन्नडभाषामयी टीका लिखने की प्रतिज्ञा प्रस्तुत छन्द में की है । इसमे 'भूतार्थ' पद शद्धात्मतत्त्व का वाचक है (द्रष्टव्य, धवला पुस्तक 13, पृ॰ 280, 286) तथा 'विज्ञातजगत्त्रय' पद सर्वज्ञत्व का प्रतिपादक है ।

यह मगलाचरण है । जो मग अर्थात् सुख को लाता है वह मगल कहलाता है (द्र. धवला, 1/1, 1, 1/श्लोक 16/33 एव पचास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति 1/5/5)। अथवा जो जीवो के पापरूपी मल को गलाता है, वह मंगल है (द्र धवला, वही, श्लोक 17/34) । धवला मे मगल के पुण्य, पवित्र, सौख्य आदि दस पर्यायवाची गिनाये है (द्र. वही, श्लोक 31/10) । यद्यपि शास्त्ररचना स्वय में मांगलिक कार्य है, फिर उसमें पृथक्रीत्या मगलाचरण क्यों किया जाता है—इसका सुन्दर समाधान शास्त्रो में अनेकत्र किया गया है । (द्र धवला 1/1, 1, 1/41/10 तथा पचास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति 1/6/8), जिसका सार है कि मगलाचरण करने का मूल उद्देश्य कृतोपकार-स्मरण तथा पाप-विनाश है ।

उत्थानिका—श्री योगीन्द्रदेवरु प्रभाकरभट्टप्रतिबोधनार्थममृताशीत्यभिधानग्रथम माड्ुत्तम तदादियोळ् इष्टदेवतानमस्कारमं माडिदपरु—

विश्वप्रकाशिमहिमानममानमेकम्
ओमक्षराद्यखिलवाङ्मयहेतुभूतम् ।
यं शकर सुगतमीशमनीशमाहुः
अर्हन्तमूर्जितमह तमहं नमामि ।।1।।

टीका—(विश्वप्रकाशिमहिमानम्) जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिसकलपदार्थंयुगपत्प्रकाशनसमर्थमहिमोपेतनु (अमानम्) अनन्तगुणसमन्वितनप्पुदरिनप्रमाणनु (एकम्) अखण्डचैतन्यगुणापेक्षयिनेकनु (ओमक्षराद्यखिलवाङ्मयहेतुभूतम्) ओमक्षराद्यखिलवाङ्मयहेतुभूतनु,

"अरहन्ता असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो ।
पढमक्खर-णिप्पणो ओकारो पच परमेट्ठी ।।"[1]

इति स्वरसधियि नेरेदोकारादि निखिळवाङ्मयोपदेशकत्वदिमोमक्षराद्यखिळवाङ्मयकारणनु(यम्)आवनोर्व (शकरम्) सकलजीवसुखोपदेशकत्वदि शकरनु (सुगतम्) परमगतिप्राप्तनप्पुदरि सुगतनु (ईशम्) परमैश्वर्योपेतनप्पुदरिनीशनु(अनीशम्)तनगे मत्तोर्वनधिकनिल्लप्पुदरिनीशनु (ऊर्जितमहम्) मिक्कबेळगनुळ्ळनुमप्प परमात्मनु (अर्हन्तम्) अर्हद्भट्टारकनेंदु (आहु) गणधरदेवादियोगीन्द्ररु पेळदपरु (तम्) आ युगदादिभूतसर्वज्ञन (अहम्) श्रीयोगीन्द्रदेवनप्पानु (नमामि)वन्दिसूय ।

भावार्थ—वाच्य-वाचकरूपदिनर्हदभट्टारकर्गे नमस्कार माडिददेबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—श्री योगीन्दुदेव प्रभाकर भट्ट को समझाने के लिए 'अमृताशीति' नामक ग्रन्थ की रचना करते हुए उसके प्रारभ में इष्टदेव—अर्हन्त परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

खण्डान्वय—विश्वप्रकाशिमहिमानम्=सम्पूर्ण लोकालोक को प्रकाशित करे—ऐसी महिमा से मडित, अमानम्=अपरिमित (गुणों से युक्त), एकम्=अखण्ड एक तत्त्वरूप, ओमक्षराद्यखिलवाङ्मयहेतुभूतम्=ओकार आदि सम्पूर्ण जिनवाणी के निमित्त कारणरूप (तथा)

---

1 समणसुत्त 1/2, बृहद्द्रव्यसग्रह, गाथा 49 की टीका मे उद्धृत ।

यम् = जिन्हे, शंकरम् = शान्तिकारक, सुगतम् = श्रेष्ठगति को प्राप्त, ईशम् = श्रेष्ठस्वामी/ईश्वर, अनीशम् = आत्मेतर पदार्थों के स्वामित्व की भावना से रहित, ऊर्जितमहम् = अत्यन्त प्रकाशमान (कहा गया है) **तम्** = उन, अर्हन्तम् = अर्हन्त परमात्मा को, अहम् = मै (योगीन्दु देव) नमामि = नमस्कार करता हूँ ।

हिन्दी अनुवाद (टीका) –तीनों लोको और तीनो कालो में रहने वाले समस्त पदार्थों को युगपत् प्रकाशित करने में समर्थ महिमा के धारी, अनन्त गुणो से युक्त होने से जिन्हे 'अपरिमित' ऐसा कहा गया है (तथा) अखण्ड चैतन्यगुण की अपेक्षा से जो एक हैं (तथा) 'ओम्' इस अक्षर सहित सम्पूर्ण वाङ्मय के कारणभूत है—"अर्हन्त, अशरीरी (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि—इन पाँचो परमेष्ठियो के नामो के प्रथम अक्षरो से निष्पन्न 'ओंकार' पचपरमेष्ठी है,"—इनकी स्वर-सन्धि से निर्मित ओकार आदि सम्पूर्ण वाङ्मय का उपदेशकत्व होने से ओकारादि सम्पूर्ण वाङ्मय के कारण है, ऐसे जो कोई सम्पूर्ण जीवो के लिए सुख के उपदेशक होने से 'शकर' है, परमपद को प्राप्त होने से जो 'सुगत' है, परम उत्कृष्ट ऐश्वर्य से युक्त होने से जो 'ईश' है (तथा) अपने से अधिक (अन्य किसी पदार्थ के) न होने से जो अनीश हैं, (ऐसे) अत्यन्त प्रकाशमान उन परमात्मा अर्हन्त भट्टारक को गणधरदेवादि 'योगीन्द्र' कहते है (अर्थात् गणधरदेव भी उनका गुणगान-स्तुतिगान करते है)—इस युग के प्रारम्भ मे हुए उन सर्वज्ञ परमात्मा को मै योगीन्दुदेव नमस्कार/वन्दना करता हूँ ।

भावार्थ—वाच्य-वाचकरूप से अर्हद्भट्टारक के लिए नमस्कार किया गया है—यह अभिप्राय है ।

विशेष—लोक मे 'शकर' शब्द महादेव, 'सुगत' शब्द महात्मा बुद्ध तथा 'ईश' शब्द भगवान् विष्णु के अर्थ मे रूढ है, किन्तु यहाँ पर इन शब्दो के मूल वाच्यार्थ का अवलम्बन लेकर अर्हन्त परमात्मा के विशेषणो के रूप में इनका प्रयोग किया गया है । ऐसे प्रयोग 'भक्तामर स्तोत्र' आदि काव्यो में जैनाचार्यों ने अनेकश किये है । आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड मे परमात्मा के लिए बुद्ध आदि शब्दो का प्रयोग किया है (द्रष्टव्य, भावपाहुड 150) ।

उत्थानिका—कतिपय पद्यगळि विषयसुखनिमित्तमर्थोपार्जनायास-प्रकारम निरूपिसिदपरु—

> **भ्रातः ! प्रभातसमये त्वरित किमर्थम्,**
> **अर्थाय चेत् स च सुखाय ततः स सार्थः ।**
> **यद्येवमाशु कुरु पुण्यमतोऽर्थसिद्धिः,**
> **पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ।।2।।**

टीका—(भ्रात !) एलेयन्ना ! (प्रभातसमये) उदयकालदोळु (त्वरित) शीघ्र पोदुप (किमर्थम्) येनु कारण ? (अर्थाय चेत्) अर्थ कारणमे (स च) आ अर्थमु (सुखाय) विषयसुखनिमित्तमे (तत) आ विषयसुखप्राप्तियत्तणिं (स सार्थ) स्वार्थसिद्धियक्कुमे । (यद्येवम्) इन्ते निन्नबगे अन्तादोडे (आशु) शीघ्र (कुरु) माडु (पुण्यम्) पुण्यानुष्ठानम (अत) ई पुण्योपार्जनदत्तणि (अर्थसिद्धि) इष्टार्थसिद्धियक्कु । (पुण्यैर्विना) विविधाभ्युदयसुखप्रदपुण्योदयगळिळ्ळदे (समीहितार्था) ईप्सितार्थगळु (न हि भवन्ति) आगवु ।

भावार्थ—कृतपुण्यगल्लदे बयके कूडदेबुर्थम् ।

उत्थानिका—(अब) कुछ पद्यो के द्वारा विषयसुख मे निमित्तभूत धनोपार्जन के प्रयत्नो के प्रकारो का निरूपण करते है—

खण्डान्वय—भ्रात ! =हे भाई ! प्रभातसमये=प्रात काल, त्वरित=शीघ्रगमन, किमर्थम्=किसलिए करते हो ? चेत्=यदि, अर्थाय=धनोपार्जन के लिए(जाते हो),च=और, स=वह धन, सुखाय =सुख के लिए (कारणभूत होता है), तत.=तब तो, स=वह धन, सार्थ=सार्थक है। यद्येवम्=यदि ऐसा है (अर्थात् धन से सुख की प्राप्ति होती है, तो) आशु=शीघ्रता से, पुण्य कुरु=पुण्यकार्य करो, अत =ऐसे पुण्य से, अर्थसिद्धि =प्रयोजन की सिद्धि होती है। हि= क्योकि, पुण्यैर्विना=पुण्य के बिना, समीहितार्था =वाछित पदार्थ, न हि भवन्ति=प्राप्त नही होते है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—हे भाई ! सूर्योदयकाल मे शीघ्रगमन किस कारण से करते हो ? यदि अर्थ के कारण (करते हो, तो) वह अर्थ विषयसुख का निमित्त है (और) उस विषयसुख की प्राप्ति से

स्व-अर्थ की सिद्धि होती है—यदि ऐसा तुम्हारा चिन्तन है, तो शीघ्र पुण्यानुष्ठान करो। इस पुण्योपार्जन से तुम्हे इष्ट पदार्थ की सिद्धि होगी। विविध प्रकार के अभ्युदय के सुखो को देने वाले पुण्य के उदय के बिना वाछित पदार्थ प्राप्त नही होते हैं।

भावार्थ—कृतपुण्य हुए बिना अपनी मनोकामना पूर्ण नही होती है।

विशेष – धर्म की प्राप्ति पापमय परिणामो से नही होती है, अतः पात्रता प्रकट करने के लिए प्रथमत पुण्यकार्यो की प्रेरणा इसमें दी गई है और पुण्य की प्राप्ति का साधन पूर्वोक्त छन्द में वीतरागी सच्चे देव का पावन स्मरण करके साकेतिक रूप मे प्रकट कर ही दिया है। कुन्दकुन्द आदि आचार्यो ने भी अर्हन्त आदि की भक्ति को पुण्य का कारण बतलाया है (द्रष्टव्य, पचास्तिकाय 136, 166 तथा हरिभद्र कृत योगदृष्टि-समुच्चय 129, 130 आदि)। आचार्य अकलकदेव ने भी अर्हन्त आदि की भक्ति को मुक्ति का सोपान माना है (द्र. राजवार्तिक 6/24/10) तथा सम्यक्त्व के साथ किये गये प्रशस्त अध्यवसायो को 'कर्म-ईंधन को जलानेवाली अग्नि' कहा है (वही, 9/18/9)।

सम्यक्त्व के साथ श्रुतज्ञान, व्रतरूप परिणाम तथा कषायो के निग्रहरूप गुणो से परिणत आत्मा को पुण्य जीव कहा गया है (द्र. मूलाराधना, 234)। अत जो जीव अपनी मनोकामना पूर्ण करना चाहते हैं, उन्हे पूर्वोक्त पुण्य करना ही चाहिए। कर्मबन्ध की विशेषता ही ऐसी है कि पापमय परिणाम वाले जीव के असाता वेदनीय के उदय की प्रमुखता होने से उसके इष्ट-सयोग व अनिष्ट-वियोग संभव ही नही है।

धर्मादयो हि हितहेतुतया प्रसिद्धा,
धर्माद्धनं धनत ईहितवस्तुसिद्धि ।
बुद्ध्वेति मुग्ध! हितकारि विधेहि पुण्यं,
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समोहितार्था ॥3॥

टीका—(धर्मादय) धर्मार्थकाममोक्षमेंबुवु (हि) नेट्टने (हितहेतुतया) जीवहितनिमित्तवदि (प्रसिद्धा) लोकप्रसिद्धमप्पुवु। (धर्मात्) अभ्युदय-नि श्रेयसहेतुभूतधर्मदत्तणि (धनम्) इन्द्रियसुखप्रापणहेतुभूत-धनमक्कु, (धनत ईहितवस्तुसिद्धि) आ धनदत्तणिदीप्सित-वस्तु-सिद्धियक्कुमेदु (बुद्ध्वा) अरिदु (इति) इन्तु (मुग्ध!) एले विवेक-विकलने! (हितकारि) हितानुष्ठानरतने (विधेहि) माळ्‍ (पुण्यम्) निरवद्यमप्पपुण्यम। (पुण्यैर्विना) विविधाभ्युदयसुखप्रदपुण्योदयगळिल्लदे (समीहितार्था) सम्यगीप्सितर्थगळ् (न हि भवन्ति) आगवु।

भावार्थ—चतुर्विधपुरुषार्थक्क सद्धर्ममे मुख्यमिबुदभिप्रायम्।

खण्डान्वय—हि=वस्तुत, धर्मादय =धर्म आदि, हितहेतुतया= हित के कारणरूप से, प्रसिद्धा =प्रसिद्ध है। धर्मात्=धर्म से, धनम्= धन (की प्राप्ति होती है और) धनत =धन से, ईहितवस्तुसिद्धि = वाछित पदार्थ की प्राप्ति होती है, इति=ऐसा, बुद्ध्वा=जानकर, मुग्ध!=हे मूढ! हितकारि=हित करनेवाले, पुण्यम्=पुण्य को, विधेहि=करो। (क्योकि) पुण्यैर्विना=पुण्य के बिना, समीहितार्था =वाछित पदार्थ, न हि भवन्ति=प्राप्त नही होते है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये वास्तव मे स्पष्टत जीव के हित के निमित्तरूप से लोक में प्रसिद्ध है। अभ्युदय और नि श्रेयस के कारणभूत धर्म से इन्द्रियसुख की प्राप्ति का कारण-भूत धन प्राप्त होता है (और) धन से वाछित वस्तु की प्राप्ति होती है—ऐसा जानकर हे विवेकरहित हित के अनुष्ठान में रत जीव! निर्दोष पुण्य का उपार्जन कर। विविध प्रकार के अभ्युदय सुख को देने वाले पुण्य के उदय के बिना भलीभाँति चाहे गये पदार्थ प्राप्त नही होते है।

भावार्थ—चतुर्विध पुरुषार्थ में सद्धर्म ही मुख्य है—यह अभिप्राय है।

विशेष—धन आदि की अभिलाषा व उनके लिए सतत प्रयत्नशील रहने से धन की प्राप्ति नही होती है, क्योकि वस्तुतः परवस्तु की अभिलाषा तो पापभाव है। फिर भी यदि कोई जीव धन आदि प्राप्त करना चाहता है, तो उसे वीतरागी देव-गुरु-धर्म के सतत सान्निध्य आदि पुण्यकार्यों मे प्रवृत्त होना चाहिए।

यहाँ 'मुग्ध' पद मोहग्रस्त जीव का वाचक है और मोह दर्शन-मोहनीय आदि से उत्पन्न अविवेक का सूचक है (द्र. पंचास्तिकाय, गा 140 की अमृतचन्द्र की टीका)। अत सम्यक्त्व आदि से हीन व्यक्ति को आत्मसाधना की उच्चतम अवस्था शुद्धोपयोग की प्राप्ति की पात्रता प्रकट करने के लिए शुभोपयोग मे आरूढ़ होने की प्रेरणा यहाँ दी गई है। क्योकि सच्चा पुण्य वही है, जिससे पवित्रता प्रकट होती है (द्र. सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक 6/3/320/2 तथा 6/3/4/507/11)।

वस्तुत तो 'पुण्य' शब्द का अर्थ ही पवित्रता है। (द्र सस्कृत कोश, आप्टे कृत, पृ 620) अत मिथ्यात्वादि अशुचिता के साथ होने वाला भाव यदि शुभ भी हो, तो वह कडवी तूम्बी मे रखे दुग्ध के समान अग्राह्य ही है। सम्यक्त्व से युक्त शुभ भाव ही वस्तुत. पुण्य कहे गये है (द्र भगवती आराधना, 57-60)। अत यहाँ पुण्य की प्रेरणा का उद्देश्य प्रशस्त भावो मे जीव को नियत कर उसे सम्यक्त्व का पात्र बनाना है। क्योकि योगीन्दु देव ने सम्यक्त्व की राह में आने वाली मृत्यु को भी श्रेष्ठ कहा है किन्तु सम्यक्त्व से विमुख पुण्य को उचित नही बताया है (द्र परमात्मप्रकाश 2/58)।

वार्तादिभिर्यदि धनं नियत जनानाम्,
निस्व. कथ भवति कोऽपि कृषीवलादिः ।
ज्ञात्वेति रे ! मम वच. चतुरास्स्व पुण्ये,
पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्था ॥4॥

टीका—(वार्तादिभि) अर्थोपार्जननिमित्तभूतवार्तादिगळि (जनानाम्) जनगळ्गे (यदि) येल्लियानु (धनम्) स्वर्ण-रजतादिवस्तु (नियतम्) नियमदिनक्कुमप्पोडे (कृषीवलादि) कृषीवलप्रभृतियप्प (कोऽपि) आवदोन्दु जनं (निस्व) धनरहित (कथ भवति) यन्तक्कु ? (इति) इन्तु (मम वच) यन्न नुडिय (ज्ञात्वा) अरिदु (रे !) एले ! (चतुर) विवेकसमन्वित ! (पुण्ये) पुण्यानुष्ठानदोळ् (आस्स्व) इरु । (पुण्यैर्विना) पुण्योदयमिल्लदे (समीहितार्था) ईप्सितार्थ गळ् (न हि भवन्ति) आगवु ।

भावार्थ—आयासादिनर्थलाभमागदेबुदर्थम् ।

खण्डान्वय—यदि वार्तादिभि =यदि मात्र बाते आदि करने से, जनानाम्=लोगो को, धनम्=धन सम्पत्ति, नियतम्=निश्चित (रूप से प्राप्त हो जाये, तो), कोऽपि=कोई भी. कृषीवलादि =कृषक आदि जन, निस्व=निर्धन, कथ भवति=कैसे होता ? इति=ऐसा, मम वच: =मेरा वचन, ज्ञात्वा=जानकर, रे चतुर !=हे विज्ञजन ! पुण्ये= पुण्य कार्य मे, आस्स्व=निरत रह, हि=क्योकि, पुण्यैर्विना=पुण्य के बिना, समीहितार्था =वाछित पदार्थ, न भवन्ति=प्राप्त नही होते हैं ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—धनोपार्जन के लिए अहेतुकर बातचीत आदि से लोगो के लिए यदि कही सोना-चॉदी आदि पदार्थ नियम से प्राप्त होते हो, तो कृषक आदि कोई भी व्यक्ति धनरहित कैसे होता ? ऐसा मेरा कथन जानकर अरे विवेकयुक्त ! पुण्य के अनुष्ठान में स्थित रहो, (क्योकि) पुण्योदय के बिना वाछित पदार्थ प्राप्त नही होते है ।

भावार्थ—(पुण्य के अभाव मे) बाहरी प्रयत्न आदि करने से भी धन का लाभ नही होता है—यह अभिप्राय है ।

विशेष—अज्ञानीजनो की यह मान्यता है कि उनके प्रयत्न से धन आदि की प्राप्ति होती है, वे यह भूल जाते हैं कि यह सब पूर्वकृत पुण्य

का फल है। वर्तमान में मिथ्याकर्तृत्व भाव से तो उनके घोर मिथ्यात्व का ही बन्ध होता है। ऐसे लोग कृषकों, मजदूरो आदि को दिन-रात उनके अथक प्रयत्नों के उपरान्त भी निर्धन देखते हुए अपनी इस मिथ्या मान्यता को नही सुधारते और अनन्त ससार का सृजन करते हैं। इसीलिए ज्ञानी गुरु समझाते है कि "हे भव्य ! अपने विवेक का उपयोग कर और पुण्य कार्य में निरत हो जाओ।" यहाँ पुण्य कार्य की प्रेरणा के पीछे कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य निहित हैं। प्रथम तो पुण्य भाव में आये बिना धर्म-प्राप्ति की पात्रता ही नही बनती है, फिर धर्म के आधारभूत देव-गुरु-धर्म का सान्निध्य व शुद्धात्मतत्त्व के प्रति रुचि-प्रीति होने पर ही वास्तविक पुण्यभाव होते है। अतः वस्तुत· पुण्य के उपादेय न होते हुए भी 'अशुभस्य वचनार्थम्· ·' की नीति के अनुसार वह जीव पुण्य की अभिलाषा मे वीतरागी देव-गुरु-धर्म व शुद्धात्मतत्त्व का सान्निध्यलाभ प्राप्त करने का यत्न करेगा —इसी सदाशयता से पुण्य की प्रेरणा आचार्यदेव ने दी है (द्र आत्मनुशासन 239-240)।

प्रथम भूमिका मे विषय-भोगो मे निरत शिष्य के लिए ऐसा उपदेश प्राय आचार्यो ने दिया है। वे कहते है कि "विद्वान् मनुष्य निश्चय से आत्म-परिणाम को ही पुण्य और पाप का कारण मानते हैं, इसलिए अपने निर्मल परिणाम के द्वारा पूर्वोपार्जित पाप की निर्जरा और पुण्य का उपार्जन करना चाहिए। श्रेष्ठ जन भली भाँति विचार करके लोक सम्बन्धी कार्य के विषय मे विशेष प्रयत्न नही करते हैं, किंतु भविष्य की सुन्दरता-हेतु वे ऐसे (पुण्य) कार्यो को प्रीतिपूर्वक करने का अतिशय प्रयत्न करते हैं।" (द्र आत्मानुशासन, श्लोक 23, 31, 37) अत हे शिष्य ! तुम भी अपनी पूरी शक्ति और पूरे उत्साह के साथ सत्कर्म (पुण्य) करते रहो (कुरल काव्य, 4/3)।

प्रारभ्यते भुवि बुधेन धियाऽधिगम्य,
तत्कर्म येन जगतोऽपि सुखोदय स्यात् ।
कृष्यादिकं पुनरिद विदधासि यन्त्वम्,
स्वस्यापि रे ! विपुल दु खफल न किं तत् ॥5॥

टीका—(बुधेन) निजनिरजनपरमात्मपरिज्ञानवन्तनि (धिया) विवेकोपकरणदि (अधिगम्य) इदरिनवश्य स्वर्गापवर्गफलमक्कुमेंदरिदु (भुवि) लोकदोळ् (प्रारभ्यते) तोडगल् पट्टदु (तत्कर्म) आ निजात्मानुष्ठान(येन) आवुदोन्दु कारणदि (जगतोऽपि) लोकक्क(सुखोदय स्यात्) शान्तात्मानुष्ठानजनित गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षताहेतुवप्पुदरि सुखोदयमक्कु (त्वम्) नीम् (पुन.) मत्ते (यत्) आवदोन्दु (इद कृष्यादिकम्) ई प्रत्यक्षीभूतकृषि-पशुपालन-वाणिज्यादिव्यापारम (विदधासि) अत्याग्रहदि माळ्पे आनेगळ्ते (रे !) एले ! (स्वस्यापि) तन्न (विपुल दु खफलम्) पिरिदप्प दु खफल (न कि तत्) अद नल्लदे अक्कुमेंबुदर्थम् ।

खण्डान्वय—बुधेन=ज्ञानीजन के द्वारा, धिया=बुद्धिबल से, अधिगम्य=जानकर ही, भुवि=लोक में, तत्कर्म=वह कार्य, प्रारभ्यते =प्रारम्भ किया जाता है, येन=जिससे, जगतोऽपि=विश्व (के जीवो) को भी, सुखोदय =सुख की प्राप्ति, स्यात्=होती हो । रे !=हे जीव ! त्वम्=तुम, पुन =भी, यदिदम्=जो यह, कृष्यादिकम्=खेती आदि कार्य, विदधाति=करते हो, (वह), स्वस्यापि=स्वय को (तुम्हे) भी, किम्=क्या, तत्=वे खेती आदि कार्य, दु खफल न=जिनके फल में दु ख प्राप्त होता है—ऐसे नही है ?

हिन्दी अनुवाद (टीका)—निजनिरंजन परमात्मा के परिज्ञान के धनी पुरुष के द्वारा विवेकरूपी उपकरण से 'इससे अवश्य ही स्वर्ग व मोक्षरूप फल प्राप्त होगा'—ऐसा जानकर लोक मे (कोई कार्य) प्रारम्भ किया जाता है । यह निजात्मा का अनुष्ठान जिससे है जगत् के जीवो के भी शान्त आत्मा के अनुष्ठान से उत्पन्न चार सौ गव्यूति तक सुभिक्षता का कारणरूप होने से सुख का उदय होता है । तुम फिर जो यह प्रत्यक्षीभूत कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि क्रिया-व्यापार को अत्यन्त आग्रह से 'करता हूँ'—ऐसा कहते हो (तो) अरे ! (तुम्हे) स्वय

भी (इनसे) अत्यन्त दु:खरूपी फल के अलावा भी कुछ होता है क्या ? (अर्थात् नही होता)—यह तात्पर्य है।

विशेष—धन-सम्पदा की प्राप्ति के निमित्त जीव कृषि-वाणिज्य आदि कार्यो में प्रवृत्त होकर 'यह कार्य मैंने किया और इससे मुझे इतना धन मिला' इत्यादि रूप अहं का पोषण करता है। उसे ज्ञानी-गुरु समझाते है कि जिन क्रियाओ को तुम इतने अहं और आग्रहपूर्वक करते हो, उससे क्या तुम्हे सुख मिला कभी ? क्योंकि वास्तविक पुण्य तो वही है जो सुख-शाति का अनुभव कराये। अतएव विवेकीजन निजशुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का यत्न करते हैं, जो वास्तव में स्वय सुख का साधन है तथा सुख का केन्द्र भी है। अन्य समस्त धनादिक से सुख की अभिलाषा मे किये जानेवाले कार्य तो आदि, मध्य और अन्त में दु ख ही देते है। क्योंकि कर्तृत्व की भावना ही अज्ञानमूलक है, जो कि दु ख का ही कारण होती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इस तथ्य का प्रबल समर्थन किया है (द्र समयसार, बधअधिकार, गा 259-269 तक)। कृषि आदि कार्यो को शास्त्रो मे अत्यन्त कष्टपूर्ण माना गया है (द्र आत्मानुशासन, 42)।

स्वामी कार्तिकेय ने भी कहा है कि यह जीव लक्ष्मी को प्राप्त करना तो चाहता है, किंतु पुण्य क्रियाओ से प्रीति नही करता। कही बिना बीज के भी धान्य की उत्पत्ति देखी गई है क्या ? अरे, सद्धर्म के प्रभाव से तो बिना प्रयत्न के भी लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि लक्ष्मी तो सदा पुण्य की ही दासी रही है (द्रष्टव्य, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 428, 434)।

टीकाकार ने 'शान्तात्मानुष्ठानजनित गव्यूतिशतचतुष्टय-सुभिक्षता' कहा है। आगमग्रथो मे इसका वर्णन दश ज्ञानातिशयो के अन्तर्गत प्राप्त होता है। 'तिलोयपण्णत्ति' के अनुसार चारो दिशाओ में सौ-सौ कोश मिलाकर चार सौ कोश तक सुभिक्षता मानी गयी है (द्र तिलोयपण्णत्ति, 4/908 तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 13/98)।

उत्थानिका—ओलगदिनप्पायासमं पेळ्दपरु—

> **एह्येहि याहि सर निस्सर वारितोऽसि,**
> **मा मन्दिरं नरपतेर्विश रे विशंकम्।**
> **इत्यादि सेवनफलं प्रथमं लभन्ते,**
> **लब्ध्वापि सा यदि चला सफला कथं श्री. ॥6॥**

टीका—(एह्येहि) बा बा (याहि सर) आगले सारु (निस्सर) आगले सारिदिरु (वारितोऽसि) निवारितोऽसि निवारिसपट्टेयल्ले (नरपते मन्दिरम्) आयुगळ मनेय (रे!) एले! (विशकम्) शकारहित-नागि (मा विश) ओळहोगदिरेदु (इत्यादि) इदु मोदलागोडेय (सेवन-फलम्) बोलगदोळप्प फलम (प्रथमम्) मोदलोळु (लभन्ते) पडेवरु। (लब्ध्वापि) यत्तानु पडेयल् पट्टोड (सा श्री) आ लक्ष्मी (यदि चला) सचळेयक्कुमप्पोडे (सफला कथम्?) सफले येतादपळु?

भावार्थ—"प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुचति प्राणान्।
दुखीयति सुखहेतो को मूर्ख सेवकादपर ॥"[1]
निष्ठेयल्लद सिरिय बयसि सेवकावृत्तियोळे सेपुदु कष्टमेबुदु सूत्रार्थम्।

उत्थानिका—राजदरबार में होनेवाला प्रयत्न (कार्यकलाप) बतलाते हैं—

खण्डान्वय—एहि-एहि=आओ-आओ, याहि=जाओ, सर=आगे चलो, निस्सर=निकल जाओ, वारितोऽसि=तुम मना किये गये हो। नरपते=राजा के, मन्दिरम्=महल मे, रे!=अरे! विशकम्=शकारहित (निश्चित) होकर, मा विश=प्रवेश मत करो—इत्यादि-सेवनफलम्=इत्यादि रूप सेवा का फल, प्रथमम्=सर्वप्रथम, (सेवक-गण), लभन्ते=प्राप्त करते हैं। लब्ध्वापि=(यह सब) प्राप्त करके भी, सा श्री=वह लक्ष्मी, यदि चला=यदि चंचला है, (तो), कथं सफला=फलयुक्त/सफल कैसे हो सकती है?

हिन्दी अनुवाद (टीका)—आओ-आओ, कुछ आगे बढो, समीप मत जाओ, तुम निवारित हो, मना किये गये हो न! अरे! राजा के महल के अन्दर शंकारहित होकर प्रवेश मत करो – ऐसे बहुत प्रकार के राजदरबार मे उपस्थित होने के फल को (सेवकगण) सर्वप्रथम

---

1 हितोपदेश 2/27, सुभाषितरत्न भाण्डागार पृ० 97

प्राप्त करते हैं। यदि प्राप्त करने के बाद भी वह लक्ष्मी चंचलित होती है, तो वह सफल कैसे होगी ?

भावार्थ—"सेवक के अतिरिक्त और ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो उन्नति के लिए नमस्कार करता है, (अपने स्वामी के) जीवन के लिए (अपने) प्राणो को भी छोड देता है और (अपने स्वामी के) सुख के लिए स्वय दु खी होता है।"

– बिना निष्ठा के लक्ष्मी को चाहकर सेवक की चर्या मे रहना कष्ट ही है—ऐसा सूत्रार्थ है।

विशेष—लक्ष्मी की प्राप्ति के निमित्त व्यक्ति सेवक-वृत्ति अगीकार करता है और उसी की आशा में अपने स्वामी के निमित्त अनेको त्याग करता है व कष्ट भोगता है। वह यह नही जानता कि 'लक्ष्मी पुण्य के उदय से प्राप्त होती है, तथापि वह स्थायी रूप से किसी के पास नही रहती है। जो उसमें रमते हैं, उनसे सम्पत्ति शीघ्र ही बिछुड जाती है। क्योकि लक्ष्मी (परिग्रह) में आसक्ति का भाव पाप है और पाप के उदय में सम्पत्ति छाया के समान विलीन हो जाती है।' अत. जो ज्ञानीजन हैं, वे अपने परिणामो को पाप से बचाने के लिए लक्ष्मी में रमणता छोडकर अनासक्त योगी हो जाते है। इससे स्पष्ट है कि धनसम्पदारूप लक्ष्मी की चाहत भी कष्टरूप है तथा उसकी प्राप्ति होने पर उसमे आसक्ति व रमणता भी दु ख का ही कारण है।

सेवा का भाव ही यदि आता है तो वह जीव-राजा के प्रति आना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है कि "अर्थार्थी को जीवराजा का श्रद्धा, ज्ञान और अनुचरण करना चाहिए"—(द्र. समयसार, गा 17-18)। पर के प्रति श्रद्धा, ज्ञान व अनुरक्ति का भाव तो पाप-भाव है, जो इष्ट-वियोग ही करायेगा। वस्तुत तो शुद्ध जीवतत्त्व ही एकमात्र इष्ट होना चाहिए, क्योकि उसका वियोग कोई कभी नही करा सकता। बाह्य धन-वैभव क्षण-भगुर हैं। आ० गुणभद्र कहते हैं कि जगत् में जो राज-वैभव है, वह पूर्वकृत पुण्य का खेल है—यह जानते हुए भी विद्वान् भी उनकी सेवा करते हैं, यह अनन्त आश्चर्य का विषय है।" (द्र आत्मानुशासन, 95)

उत्थानिका --गुणिगळ् समीपदोळ् सिरिगे नेलेयेन्दु पेळ्दपरु—

वार्त्तापि किं न तव कर्णमुपागतेयम्,
पात्रे रतिं स्थिरतया न गता कदाचित् ।
चापल्यतोऽपि जितसरुव नितम्बिनि श्री ,
तस्या कथं बत कृती विदधाति संगम् ॥7॥

टीका—(चापल्यतोऽपि) चपलेयत्तणि मत्ते(जितसरुव नितम्बिनि) विजितनिखिल-कामिनियेनिप (श्री) लक्ष्मी (पात्रे) सत्कुल-सद्गुणोपेतपात्रदोळ् (कदाचित्) येन्दप्पोडं (स्थिरतया) स्थिरमप्प तन्मेयि (रतिं) मेच्चुगेगे (न गता) सल्वळें म्ब (इयं वार्ता) ई नुडि (तव कर्णम्) निन्न किवियं (किं नोपगता) एन मुट्टदे ? (तस्या) आकेया (संगम्) कूटम (कृती) विवेकियप्पा (बत) अक्कटा (कथं विदधाति) येन्तु ताळ्दुगु ?

भावार्थ—सचलश्रिय भेदज्ञानी बयसनिम्बुदर्थम् ।

उत्थानिका—गुणीजनो का सामीप्य लक्ष्मी के लिए आश्रय स्थल है, यह बतलाते है—

खण्डान्वय— किम्=क्या, तव कर्णम्=तुम्हारे कान मे, इयं वार्तापि=यह चर्चा भी, नोपगता=नही आयी है (सुनाई नही पडी है कि), चापल्यतो=चचलता के कारण, जितसरुव=कामदेव को जीतने वाली, नितम्बिनि=सुन्दरी, श्री =लक्ष्मी, कदाचिदपि=कभी भी, पात्रे=योग्य व्यक्ति मे, स्थिरतया=स्थिर रूप से, रतिम्=रमणता/सन्तुष्टि को, न गता=प्राप्त नही हुई है । (तथापि) बत=खेद है (कि), तस्या =ऐसी लक्ष्मी का, संगम्=साथ/सहवास, कृती[1]=बुद्धिमान् लोग, कथं विदधाति=क्यो करते है ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—चचलता (कटाक्ष आदि कलापो) से जिसने जगत् की समस्त सुन्दर स्त्रियो को जीत लिया है, ऐसी (सौन्दर्य-साम्राज्ञी) लक्ष्मी, श्रेष्ठ कुल व सद्गुणो से युक्त पात्र व्यक्ति में, इतना होने पर भी, दृढ तन्मयता से सन्तुष्टि को प्राप्त नही हुई है—यह कथन तुम्हारे कान मे स्पृष्ट भी नही हुआ है क्या ? (यदि हुआ है, तो फिर),

---

1 आदिपुराण मे 'किंपाक विषमान् विषयान् क. कृती भजेत्' (36/73) मे कृती शब्द का अर्थ 'विशेषज्ञानी' किया गया है ।

उस लक्ष्मी के सहवास/सान्निध्य को मेरे जैसे विवेकीजन, अत्यन्त खेद है, कैसे सहन करते है ।

भावार्थ —चचल लक्ष्मी को भेदज्ञानी नही चाहेगा—ऐसा तात्पर्य है ।

विशेष—पिछले छन्दो मे धन-सम्पत्ति आदि लक्ष्मी की प्राप्ति हेतु पुण्य करने की प्रेरणा दी थी, तथा पुण्य के साधनरूप मे वीतरागी देव-गुरु-धर्म व निजशुद्धात्मतत्त्व की चर्चा-परिज्ञान व सान्निध्य करने का परामर्श ग्रन्थकार ने दिया था। वहाँ मूल उद्देश्य देव-गुरु-धर्म आदि के माध्यम से पुण्योपार्जन द्वारा धन-सम्पत्ति की प्राप्ति न होकर, सासारिक पदार्थो से निजशुद्धात्मा का भेदज्ञान कराना था तथा सासारिक लक्ष्मी की चचलता, अस्थिरता तथा कुपात्ररति की प्रवृत्ति बताकर उससे मोह छुडाना था । वह उद्देश्य प्रस्तुत छन्द मे आकार लेने लगा है । इसमे स्वय पर मानो आश्चर्य व्यक्त करते हुए आचार्य देव कह रहे हैं कि वीतरागी देव-गुरु-धर्म व शुद्धात्मतत्त्व की चर्चा एवं सान्निध्य आदि प्राप्त करने के बाद भी यदि पुण्य व भौतिक लक्ष्मी की चाहत शेष रह जाये, तो अत्यन्त आश्चर्य की बात है । प्रज्ञावन्तो के तो ऐसा घटनाक्रम कदापि सम्भव नही है । क्योकि वे लक्ष्मी के सारे अवगुणो को जानते है । आ अमृतचन्द्र ने भी परवस्तु की चाहत को अज्ञानमयभाव तथा अधर्म कहा है (द्र समयसार, गा. 210-211, आत्मख्याति टीका) ।

लक्ष्मी को दीपशिखा के समान अस्थिर तथा सयोग मे दु.खदायिनी कहा गया है (द्र. आत्मानुशासन, 62) । हरिवशपुराण (63/70) मे इसे हाथी के कान के समान चचला व दुखदायी कहा गया है। ऐसी अनित्य लक्ष्मी की चाह भेदविज्ञानी जीवो के द्वारा सभव ही नही है (प्रशमरतिप्रकरण, 121, 151; क्षत्रचूडामणि, 1/59; आदिपुराण, 8/68, 70) ।

उत्थानिका—मत्त श्रीयवगुणम पेळदपरु—

रत्नार्थिनी यदि कथं जलधिं विमुंचेत्,
रूपार्थिनी च पंचशरं कथं वा ?
दिव्योपभोगनिरता यदि नैव शक्रम्,
कृष्णाश्रयादवगता न गुणार्थिनी श्री ॥8॥

टीका—(रत्नार्थिनी यदि) पद्मरागाद्यमूल्यमणिगणनिरतेयादोडे (जलधि) रत्नाकरम (कथ विमुचेत्) येण्टु बिडुवळु ? (रूपार्थिनी यदि) मनोहराकारद मेले सोल मुळ्ळदादोडं (च) मत्ते (पचशरम्) कामदेवन (कथ वा) मेणेतु विट्टळु ? दिव्योपभोगनिरता) कल्पवृक्ष-समुद्भूतदिव्योपभोगनिरतयादपक्षा (नैव शक्रम्) देवेन्द्रन बिडुवळु । (कृष्णाश्रयाद्) कृष्णसमाश्रयदत्तणि (अवगता) अरियेपट्टलु (न गुणा-र्थिनी) गुणार्थिनीयल्लळु (श्री) लक्ष्मी ।

भावार्थ—कलिकालदोळ्ल गुणहीनरे धनिकरेंबुदर्थम् ।

उत्थानिका—पुन लक्ष्मी के अन्य अवगुण बतलाते है—

खण्डान्वय—(वह लक्ष्मी) यदि रत्नार्थिनी=यदि रत्नो की इच्छा रखती थी (तो उसने), जलधिम्=रत्नाकर समुद्र को, कथ विमुचेत्=क्यो छोडा ? च=और (यदि), रूपार्थिनी=रूप-सौन्दर्य की अभिलाषिणी थी (तो) पचशरम्=कामदेव को, कथम् वा=क्यो छोडा ? यदि दिव्योपभोगनिरता=यदि दिव्य भोगोपभोगो की रसिका थी (तो)शक्र नैव=इन्द्र का साथ नही छोडना चाहिए था। (किन्तु उसने इन सब का साथ छोडकर) कृष्णाश्रयात्=कृष्ण का सग स्वीकार किया—इससे, अवगता=यह सुस्पष्ट है कि, श्री.=उक्त लक्ष्मी, गुणार्थिनी न =गुणों को नही चाहती है।

टीका—(उक्त लक्ष्मी) यदि पद्मरागादि अमूल्य मणियो मे निरत रहती (तो) रत्नाकर को क्यो छोडती ? (तथा यदि) सुन्दर रग-रूप पर आसक्त मन वाली थी (तो) कामदेव को फिर क्यो छोडती ? (अथवा) कल्पवृक्ष से उत्पन्न दिव्य भोग-उपभोग मे मग्न रहने का आग्रह था (तो उसे) देवेन्द्र का साथ नही छोडना था। (किन्तु) कृष्ण का आश्रय लेने से यह जान लिया गया है कि (वह लक्ष्मी) गुणो को

चाहने वाली नही है।

भावार्थ—कलिकाल में (मुख्यत.) गुणहीन व्यक्ति ही धनवान् है —यह तात्पर्य है।

विशेष—पिछले छन्द में "पात्रे रतिं स्थिरतया न गता कदाचित्" इस वाक्यांश में यह सकेत किया था कि लक्ष्मी की प्रकृति चचलता की है, तथा वह किसी भी सुपात्र के पास अधिक समय तक नही टिकती। उसी का विस्तार करते हुए प्रस्तुत छन्द में उसके द्वारा अनेक सुपात्रो को बिना किसी ठोस आधार के, मात्र चापल्य-प्रकृति के कारण छोडना तथा अन्त मे कलिकाल मे काले मन वाले अर्थात् दुष्ट प्रवृत्ति वाले लोगों के प्रति उसका रुझान होना—बताया गया है। यहाँ कृष्ण पद व्यक्ति विशेष का ससूचक न होकर कृष्णलेश्या या कलुषितचरित्र का प्रतीक है। अत यह सुस्पष्ट है कि सुपात्रो को कलिकाल मे लक्ष्मी मिलने वाली नही है, अत भौतिक लक्ष्मी के पीछे सज्जनो को नही भागना चाहिए, बल्कि ज्ञानरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए निज-ज्ञायक परमात्मा का आश्रय लेना चाहिए।

कलिकाल मे लक्ष्मी की बहुलता उसी प्रकार पापबहुल जीवो के होती है जैसे कि वर्षाकाल मे बहुत भरे सरोवर का जल गदा ही होता है (द्र आत्मानुशासन, 45)।

सम्पत्ति की अनित्यता तथा सयोगो की वियोगपरता अनेक शास्त्रो मे वर्णित है (द्र प्रशमरतिप्रकरण, 121, 151; आदिपुराण, 8/27, क्षत्रचूडामणि 1/59)। आदिपुराण मे तो क्षणभगुरा लक्ष्मी की तुलना 'विष की वल्लरी' से की गयी है—"विषवल्लीनिभा भोग-सपदो भङ्गिजीवितम्" (आदिपुराण, 17/15)। हरिवशपुराण में इसे हाथी के कान के समान चचल कहा गया है (हरिवशपुराण, 63/70)।

लक्ष्मी के दुर्गुण अन्यत्र भी कहे गये है—

"हे लक्ष्मि ! क्षणिके स्वभावचपले मूढे च पापेऽधमे।
न त्व चोत्तमपात्रमिच्छसि खले प्रायेण दुश्चारिणी ।।"
(सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, पृ. 63, छन्द 37)

उत्थानिका—मत्त श्रीयवगुणम पेळदपरु—

सत्वाधिकोऽपि सुमहानपि शीतलोऽपि,
मुक्त श्रिया चपलया जलधिर्ययेह।
तस्या कृते कथममी कृतिनोऽपि लोका,
क्लेशं ज्वलज्ज्वलनमाशु विशंति केचित् ॥9॥

टीका—(सत्त्वाधिकोऽपि) सत्त्वाधिकनागयु (सुमहानपि) विरिदु पेर्मेयनुळ्ळनागियु (शीतलोऽपि) तण्णिदनागियु (मुक्त) विडपट्टम् (चपलया) चपळेयप्प (यया) आवलोर्व (श्रिया) लक्ष्मीइ (जलधि) जलधियेम्ब पुरुष (इह) इल्लि (तस्या कृते) अन्तोप्पलक्ष्मीयोडगूट कारणमागि (कथम) एण्टु (अमी) ई प्रत्यक्षमप्प (कृतिनोऽपि) विवेक-समन्वितमागियु (केचिल्लोका) प्रभाकरभट्टमोदलादपण्डितजनंगळु (क्लेश) अर्थोपार्जननिमित्तजनितदुखयेब (ज्वलज्ज्वलनम्) उरिव किच्चं (आशु) शीघ्र (विशति) पुगुवरु।

भावार्थ—गुणहीनेयप्प लक्ष्मीनिमित्त विवेकाभासरैदद दुक्ख-मिल्लेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—फिर से लक्ष्मी के अवगुण बतलाते है—

खण्डान्वय—इह=इस लोक मे, यया चपलया श्रिया=जिस चचला लक्ष्मी के द्वारा, सत्त्वाधिकोऽपि=अधिक सामर्थ्यवान् होने पर भी, सुमहानपि=अत्यधिक विस्तृत होने पर भी, शीतलोऽपि=शीतल स्वभाव वाला होने पर भी, (ऐसा) जलधि=समुद्र, मुक्त=छोड दिया गया, तस्या कृते=उस लक्ष्मी के लिए, अमी=ये, केचित् लोका =कुछ लोग, कृतिनोऽपि=विवेकशील होने पर भी, कथम्=क्यो, क्लेश=दुखरूपी, ज्वलज्ज्वलनम्=दहकती अग्नि में, आशु=शीघ्रता से/उत्सुकतापूर्वक, विशति=प्रवेश करते हैं ?

हिन्दी अनुवाद (टीका)—शक्ति में अधिक होकर भी, अत्यन्त बडप्पनयुक्त होकर भी, ठडे स्वभाव वाला होकर भी समुद्र के समान पुरुष, जिस चपला लक्ष्मी के द्वारा छोड दिया गया है, ऐसी लक्ष्मी के सयोग के लिए कैसे प्रत्यक्षरूप, विवेकयुक्त होकर भी प्रभाकर-भट्ट आदि ये पण्डितजन धन कमाने के प्रयत्नो से उत्पन्न दुखरूपी अत्य-धिक प्रज्वलित अग्नि में शीघ्रता से प्रविष्ट हो जाते हैं !

भावार्थ—गुणहीन ऐसी लक्ष्मी के लिए विवेकाभास से रहित (अर्थात् भेदज्ञानी) व्यक्ति दु खी नही होता—यह तात्पर्य है।

विशेष—लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्र से हुई है, यह पुराणसिद्ध तथ्य तथा किवदन्ती है। यहाँ रूपक की शैली मे कहा है कि जिस लक्ष्मी ने समुद्र सदृश्य पुरुष का भी साथ नही निभाया, उसकी प्राप्ति की आशा में अत्यन्त दु.ख भोगकर भी विद्वान् लोग सतत प्रयत्नशील रहते हैं—यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है। क्योकि वस्तुत तो भेद-ज्ञानीजन भौतिक लक्ष्मी के चक्कर मे पडकर अनन्त सुख के सागर निजज्ञायक परमात्मा से अपने उपयोग को हटाकर जान-बूझकर दु खी होने की चेष्टा नही करते है। और यदि ऐसा करे, साथ ही अपने को पण्डित या बुद्धिमान् कहलवाने का साहस करे, तो ज्ञानियो को तो आश्चर्य ही होगा।

भेदविज्ञानी जीव तो सासारिक धन-सम्पदा के क्षणभगुर स्वभाव को भलीभाँति जानते है तथा उससे सुख-शाति कभी भी प्राप्त होने वाली नही है—इसका भी भलीभाँति ज्ञान उन्हे है। अत वे इसकी रुचि व प्रयत्न कभी भी नही करते है। यदि पूर्वकृतपुण्य के प्रभाव से प्राप्त हो भी जाये तो मात्र उसके ज्ञाता रहते है, भोक्ता नही बनते।

यहाँ पर 'डलयोरभेद' के सिद्धान्त के अनुसार श्लेष घटित हो सकता है, तब पाठ होगा—'चपलयाऽजडधि' तथा अर्थ होगा कि उस लक्ष्मी ने सत्त्वाधिक, सुमहान्, शीतलस्वभावी, अजडधि (अर्थात् विद्वान् व्यक्ति) का साथ छोड दिया है, फिर भी 'कृती' लोग उसका सग करना क्यों चाहते हैं, जबकि वह विद्वानो को चाहती ही नही है। लक्ष्मी के प्रसग मे ऐसी ही श्लेषपद्धति 'शाङ्र्गधरपद्धति' (1363 ई मे रचित) नामक ग्रन्थ मे (2, 9 वाँ छद) भी प्रयुक्त है। (द्र. सुभाषित-रत्नभाण्डागारम्, पृ 62)

उत्थानिका—मत्त सासारिक सुपक्षपातियनाशे दोरिती ळिपिद-परु—

> **सत्यं समस्ति सुखमल्पमिहेहितार्थै:,**
> **ईहापि तेन तव तेषु सदेति वेद्मि ।**
> **तेषा यदर्जनवियोगज - दुःखजालम्,**
> **तस्यावधि बहुधियापि न हन्त वेद्मि ॥10॥**

टीका—(ईहितार्थै) चेष्टितार्थगळिद (अल्पम्) किरिदप्प (सुखम्) सासारिक-सुख (सत्यम्) नन्नि (समस्ति) लेसागुटु ई ससारदोळु (ईहापि) चेष्टयु मत्ते (तेन) आ सुखदोडने (तव) निनगे (तेषु) आ विषयंगळोळु (सदेति) एल्लाकालमु मुटेडु (वेद्मि) अरिवे (तेषाम्) आ इन्द्रियविषयगळ (यत्) आवुदोन्दु (अर्जन) नेरपुण (वियोगज) अगल्केयत्तणिनाद (दुख जालम्) दु खसमूह (तस्य) अदर (अवधिम्) सीमेय (बहुधियापि) विविधबुद्धिसमन्वितनागियु (हन्त !) एले अण्ण ! (न वेद्मि) अरियॆ ।

भावार्थ—सुख किरिदु, तन्निमित्तमप्प अपध्यानजनित दु.खपिरियेबुदर्थम् ।

उत्थानिका—पुन सासारिक सुख के पक्षपाती को आशा दिखाकर समझाते हुए कहते हैं—

खण्डान्वय—इह = इस, समस्ति = ससार में, ईहितार्थै = वाछित पदार्थों के द्वारा, अल्प सुखम् = किचित्/नाममात्र सुख है (यह बात), सत्यम् = ठीक है, तेन = इमी कारण से, तेषु = उन पदार्थों में, तव = तुम्हारी, ईहापि = इच्छा भी, सदा = सर्वदा रहती है, इति = यह बात, वेद्मि = मै जानता हूँ । (और फिर) तेषा = उन पदार्थो के, अर्जन-वियोगज = सग्रह के वियोग से उत्पन्न होने वाला, यत् = जो, दु ख-जालम् = दु ख का समूह है, तस्यावधिम् = उसकी अवधि (अर्थात् वह कब तक रहेगा—इस कालसीमा को मै), बहुधियापि = बहुत बुद्धिमान होकर भी, हन्त = अत्यन्त खेद है (कि), न वेद्मि = नही जानता हूँ ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—चेष्टित पदार्थों से अल्पपरिमाण मे

सांसारिक सुख (प्राप्त होता है, यह बात) सत्य है, इन पदार्थों में तुम्हारी सदैव चेष्टा भी बनी रहती है यह भी मैं जानता हूँ, किन्तु उन इन्द्रिय-विषयो में सग्रह के वियोग से होने वाले दुख के समूह की सीमा को, विविध प्रकार की बुद्धि से समन्वित होकर भी, हे भाई, मैं नही जानता हूँ।

भावार्थ—(इन्द्रिय) सुख अल्प है और तन्निमित्तक अपध्यान से होने वाला दुख अत्यधिक होता है—यह अर्थ है।

विशेष—इन्द्रियजन्य सुखाभास क्षणिक होता है, किन्तु उसकी प्राप्ति की चेष्टा, योजना-निर्माण आदि मे जो आर्त-रौद्र-ध्यान होते हैं, उनके फलस्वरूप जीव को अपार दुख भोगना पडता है। और देखा जाये तो यह जो सासारिक सुखाभास है, वह भी वस्तुत दुख ही है (द्र प्रवचनसार 1/13, नियमसार गा 177-179, लघुतत्त्वस्फोट 22/1, ज्ञानार्णव 3/7-8, 39/59-63, 70)। जो व्यक्ति धन-सम्पत्ति का अर्जन कर अपनी तृष्णारूपी अग्नि को शात करना चाहते है वे भ्रमित है, क्योकि सम्पत्ति जल का नही, ईंधन का कार्य करती है (द्र आत्मानुशासन, 85)।

इन्द्रिय-विषयों के सेवन में जो सुख का आभास होता है, वह वस्तुत दुख ही है। आचार्य पूज्यपाद ने उसे दाद को खुजलाने के समान 'वेदना का प्रतिकार मात्र' कहकर उसकी दुखरूपता सिद्ध की है (द्र सर्वार्थसिद्धि 7/10)। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्द्रियजन्य सुख को दुख ही मानने के पाँच कारण गिनाये है—वह परापेक्षी है, बाधा-युक्त है, विच्छिन्न हो जाता है, बन्ध का कारण है और विषम है (द्र प्रवचनसार गा 76, पचाध्यायी, उत्तरार्द्ध 23९, 245)। स्वामी कार्तिकेय ने इन्द्रियजन्य सुख की दुखरूपता का कारण उसकी विषयाधीनता कहा है (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 61)। भगवती-आराधना (1271) मे इन्द्रिय-सुख को जीव का शत्रु निरूपित किया गया है।

उत्थानिका—क्लेशबहळ ससारदोळ सुखलवमुळ्ळ पक्षं दोषमेनें-दोडे पेळदपरु—

> **निर्बाधमाधिरहितं विधुताघसंघम्,**
> **यद्यस्ति नापरमपारममारसौख्यम् ।**
> **एवविधेऽपि मतिमानपि शर्मणीत्थम्,**
> **बुद्धि करोतु पुरुषो वद कोऽत्र दोष ॥11॥**

टीका—(निर्बाधम्) बाधारहितमु (आधिरहितम्) मनदोळ् पीडा-वर्जितमु (विधुताघसघम्) निराकृतप्रतपक्षकर्मसघातमनुळ्ळुदु (परम्) उत्कृष्टमु (अपारम्) अनन्तमुमप्प (अमारसौख्यम्) अतीन्द्रिय-सुख (यद्यस्ति न) येल्लियानु निजपरमात्मनोळिल्लवकुमप्पोडे (एव-विधेऽपि) अस्थिरमुमतृप्तिकरमु बधहेतुमुमप्प (शर्मणीत्थम्) इतप्प ससारसुखदोळु (मतिमान् अपि) मत्ते मतिपुळ्ळ (पुरुष) सत्पुरुष (बुद्धिम्) बुद्धिय (करोतु) माळ्के (वद) पेळु (क) आवुदु (अत्र) इल्लि (दोष) दोषम् ?

भावार्थ—शक्तिनिष्ठनिश्चयनयदिननन्तसुख तन्नोळुटेबुदु सूत्रा-भिप्रायम् ।

उत्थानिका—दु खबहुल ससार मे सुख का अशमात्र भी स्वीकारने की मान्यता दोष/अपराध है, यह कहते हैं—

खण्डान्वय· यदि=यदि (आत्मनि=आत्मा में), निर्बाधम्=निर्विघ्न, आधिरहितम्=मानसिक तापरहित, विधुताघसघम्=पाप-समूह विनाशक, परम्=उत्कृष्ट, अपारम्=अनन्त, अमारसौख्यम्=अतीन्द्रिय आनन्द, न अस्ति=नही है, (तर्हि=तो फिर), एवविधे=पूर्वोक्त प्रकार के, शर्मणि=सासारिक सुख में, अपि=भी, मतिमान् पुरुष=बुद्धिमान् व्यक्ति, अपि=भी, बुद्धि करोतु=उपयोग लगावे, अत्र=इसमे, क दोष=क्या दोष है (इति=यह), वद !=बोलो ! (बताओ !) ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—बाधारहित, मानसिक पीडावर्जित, निराकृतप्रतिपक्षभूतकर्मसमूह वाला, उत्कृष्ट, अनन्तरूप क्या निज-परमात्मा मे नही होता है ? (यदि ऐसा है तो फिर) अस्थिर, अतृप्ति-

कर तथा बंध के कारणभूत ऐसे सासारिक सुख में मतिमान् सत्पुरुष भी बुद्धि करे (उपयोग लगावे)—कहो, क्या इसमें (कोई) दोष है?

भावार्थ—शक्तिनिष्ठ निश्चय नय की अपेक्षा से अनन्त सुख अपनी आत्मा (स्वय) में उत्पन्न होगा—यह सूत्राभिप्राय है।

विशेष—व्यक्ति को अपने पास जो चीज उपलब्ध न हो तो वह उसकी प्राप्ति के लिए बुद्धि का अन्यत्र व्यवसाय करता है। किन्तु यदि बाहर मिलने वाली वस्तु निकृष्ट और अपने पास मिलनेवाली वस्तु उत्कृष्ट हो, तो कोई भी सत्पुरुष अपनी उत्कृष्ट वस्तु को छोडकर परायी निकृष्ट वस्तु की ओर आकृष्ट हो ही नही सकता। निज ज्ञायक परमात्मा में सर्वबाधारहित अनन्त उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्द ससारावस्था में भी शक्तिरूप में विद्यमान है, उसे जानकर उसकी अभिव्यक्ति का प्रयत्न करना ही सत्पुरुष का लक्षण है।

'सुख आत्मा में अवश्य उत्पन्न होगा'—यह कहकर जीव को पर मे सुख की खोज बन्द करने व अनन्तसुख के निधान निज-परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होने की प्रेरणा दी गई है। अभी तक जीव अपनी खोज के लिए प्रयत्नशील ही नही होता, जिसका मूलकारण है कि उसे आत्मा मे कोई आकर्षण नजर नही आता। आत्मा में अनत सुख की प्राप्ति का विश्वास हो, तो वह उसे जानने एव अनुभव करने का प्रयत्न अवश्य करेगा।

इस छन्द मे अन्योक्ति शैली का प्रयोग है। आत्मा मे उक्त विशेषणयुक्त सुख नही है—यह वाक्य प्रश्नचिह्नित होने से वस्तुत आत्मा मे ऐसे महिमावन्त सुख की प्राप्ति की सूचना मिलती है। तथा सासारिक सुख को तो बुद्धिमान् तभी न पाना चाहेगे, जब अपने में निराबाध अपार सुख प्राप्त नही होगा। क्योकि वस्तुत तो सासारिक सुख दुःखमय व दुर्गतिदायी है (द्र ज्ञानार्णव 1/49, 18/143-147, 17/15 तथा प्रवचनसार 1/63-66, 71-76, इष्टोपदेश 6, 17; पद्म-पुराण 5/230, 8/246, पद्मनंदिपचविंशति 4/74)।

उत्थानिका—स्वानुभूतिजनित-आनन्दमहिमेय पेळदपरु—

> **आस्ता समस्तमुनिसंस्तुतमस्तमोहम्,**
> **सौख्यं सखे ! विगतखेदमसख्यमेतत् ।**
> **निस्सगिनां प्रशमजं यदिहापि जातम्,**
> **तस्याशतोऽपि सदृश स्मरजं न जातु ॥12॥**

टीका—(समस्तमुनिसस्तुतम्) सकलमुनिस्तूयमानमु (अस्तमोहम्) विनष्टमोहमु (विगतखेदम्) विरहितविरहजनितखेदमु (असख्यम्) गणनातीतत्वमोमुप्प (एतत्सौख्यम्) ई परमसुख (सखे !) एळे केळेयने ! (आस्ताम्) अन्नेवरमतिरलि (निस्सगिनाम्) सकलसंग-निर्मुक्तर्गे (प्रशमजम्) उपशमभावजनितमप्पुदु (यत्) आवुदोदु सहजसुख (इहापि) ई पचमकालदोळु मत्ते (जातम्) आदुदु । (तस्य) आ स्वानुभूतिसुखद (अशतोऽपि) अनताशदोळप्पद (सदृशम्) समान माडलु (स्मरजम्) मनोजनितसुख (न जातु) येतप्पोड वारदु ।

भावार्थ—अनतसुखहेतु भूतस्वसवेदनज्ञान-भावनाजनितसुख-मुपादेयमेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—स्वानुभूति से उत्पन्न होनेवाले आनन्द की महिमा बतलाते है—

खण्डान्वय—सखे ! =हे मित्र ! समस्तमुनिसस्तुतम्=सम्पूर्ण ऋषि-परम्परा द्वारा सस्तुत, आस्ताम्=बस हो (विराम को प्राप्त हो, क्योकि मेरा) अस्तमोहम्=मोह अस्त हो चुका है। एतत् सौख्यम् =यह (जो प्राप्त हुआ है) सुख, विगतखेदम्=सब तरह के खेद से रहित है (तथा) असख्यम्=सख्याओ मे इसकी मात्रा को परिमित नही किया जा सकता है। निस्सगिनाम्=निष्परिग्रही सतो के, प्रशमजम्=प्रशमभाव से उत्पन्न होनेवाला, यत्=जो सुख है (वह) इह=यहाँ (मेरे अन्तस् मे) अपि=भी, जातम्=उत्पन्न हो गया है। (तथा) स्मरजम्=मानसिक (कामजनित) सुख (तो) तस्य=उसकी, अशतोऽपि सदृशम्=आशिक रूप मे भी समानतावाला, न जातु=कभी नही होता है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)- सकल मुनिगणो के द्वारा स्तूयमान,

विनष्टमोहवाला, विरहजनितखेद से रहित, गणनातीतरूप यह परम-सुख, अरे प्रिय मित्र, उसकी चर्चा बन्द करो। सम्पूर्ण परिग्रह से निर्मुक्त व्यक्तियो का उपशमभाव से उत्पन्न होनेवाला जो सहजसुख है (वह) इस पचम काल मे भी उत्पन्न हुआ है। मनोजनित (मानसिक-विषयजन्य) सुख इस स्वानुभूतिजन्य सुख के अनन्तवे हिस्से मे रहनेवाली समानता को प्राप्त करनेवाला कभी भी नही हो सकता है।

भावार्थ—अनन्त सुख की प्राप्ति के कारणभूत स्वसवेदन ज्ञान की भावना से उत्पन्न सुख उपादेय है—यह तात्पर्य है।

विशेष—अपने स्वरूप को अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द की शक्ति का केन्द्र जानकर उसकी निर्मल अनुभूति के सागर मे डुबकी लगाने के बाद जीव अन्य सासारिक सुखो की चर्चाओ से विरक्तचित्त वाला होकर कहता है कि हे मित्र ! अब इन क्षुद्र सुखो की चर्चाओ को बन्द करो। मेरा मन इनमे रमता नही है। इस पचमकाल में भी मुझे वीत-रागी सतो की समान प्रकृतिवाला जो निर्मल अनुभूति से उत्पन्न अपार सुख मिला है, उसके अशमात्र की भी समानता करने की योग्यता तुम्हारी चर्चा के विषय सासारिक सुखो मे नही है। (द्र मूलाचार 1146, ज्ञानार्णव 21/20 आदि)। अत इस स्वसवेदनजन्य सुख का मुझे आस्वादन करने दो तथा अन्य समस्त चर्चाओ को विराम दो। क्योकि इस सुख की महिमा का गान तो समस्त ऋषि-परम्परा ने किया है।

प्रशमभाव को ससार के कारणभूत रागादि को काटनेवाला अद्भुत शस्त्र माना गया है (द्र ज्ञानार्णव 22/4, 21/26-37); आत्म-साधना की स्थिति मे पहुँचकर यह एक 'रस' के रूप मे आस्वाद्य हो जाता है (समयसारकलश, 233)। यह स्वसवेदन की पृष्ठभूमि तैयार करता है, अत. इसकी महिमा अध्यात्म शास्त्रो मे बारबार गायी गयी है (द्र समयसारकलश, 20)।

'विगतभेद' व 'असख्य'--इन दो पदो से आचार्य यहाँ आत्मानुभूति की अखडता तथा अपरिमितता का सकेत कर रहे है, जिसका समर्थन आध्यात्मिक ग्रन्थो में अनेक जगह हुआ है। (द्र. समयसार, गाथा 14-15, समयसारकलश 9-10, 246,250,270, लघुतत्त्वस्फोट 5/14, पद्मनदिपचविंशति 1/80)

उत्थानिका—ईगळनन्तसुखप्राप्तियेतागदेदोडे पेळ्दपरु—

> **अज्ञाननाम तिमिरप्रसरोऽयमन्तः,**
> **सन्दर्शितोऽखिलपदार्थ विपर्ययात्मा ।**
> **मन्त्री स मोहनृपते. स्फुरतीह यावत्,**
> **तावत् कुतस्तव शिवं तदुपायता वा ।।13।।**

टीका—(अज्ञाननाम) अज्ञानमेब (तिमिर) अन्धकारद (प्रसरः) पेर्च्चुगे (अयम्) इदु (अन्त) ओळगे (सन्दर्शित) तोरेपट्ट (अखिल-पदार्थ-विपर्ययात्म।) जीवाद्यखिळपदार्थगळविपरीनस्वरूपमनुळ्ळुदु (मत्री) बुद्धिसहायनप्पुदु (स) अदु (मोहनृपते) दर्शनचारित्रमोहनीयेब अरसगे (प्रसरम्) ईदृग्भूतज्ञानाभिधानान्यतम (स्फुरति) स्फुरइसुगु (इह) इल्लि (यावत्) येन्नेवर (तावत्) अन्नेवर (कुत) एत्तणिदु (तव) निनगे (शिवम्) परमसुख (तदुपायता वा) तत्परमसुखहेतुभूत-भेदाभेद-रत्नत्रयाराधने मेणेत्तणदु ।

भावार्थ—परमागम-परिज्ञानदिदल्लदे अज्ञान किडदेबुदु भावार्थम् ।

उत्थानिका—अब अनतसुख की प्राप्ति कैसे अशक्य है और कब तक ? यह बतलाते है—

खण्डान्वय—अयम्=यह जो, अन्त =अन्तरग मे, अज्ञाननाम-तिमिरप्रसर =अज्ञानरूपी अन्धकार का प्रसार है, स =वह, मोह-नृपते =मोहरूपी राजा का, मत्री=मत्री है। (वह) इह=यहाँ पर (अतरग में). यावत्=जब तक, स्फुरति=उत्पन्न होता रहता है, तावत्=तब तक, कुन =कहाँ से, तव=तुम्हे, शिवम्=मोक्ष (की प्राप्ति हो सकती है), वा=अथवा, तदुपायता=उस मोक्ष के साधन (अभेद निश्चयरत्नत्रय) की सिद्धि हो सकती है ?

हिन्दी अनुवाद (टीका)—अज्ञानरूपी अन्धकार का प्रसार यह अन्तरग मे दिखलाया गया है। जीवादि सम्पूर्ण पदार्थो से विपरीत स्वरूपवाला बुद्धिसहायक (अर्थात् मत्री) वह, दर्शन व चारित्र मोहनीयरूप राजा का; ऐसा अज्ञान नामक अद्वितीय (मत्री) स्फुरायमान है यहाँ जब तक, तब तक तुम्हारे लिए परमसुख अथवा उस परमसुख के हेतुभूत भेदा-भेदात्मक रत्नत्रय की आराधना कहाँ (संभव है) ?

भावार्थ—परमागम का परिज्ञान किये बिना अज्ञान का नाश नही होगा—यह भावार्थ है।

विशेष—जब तक अन्तरंग मे अज्ञानभाव रहता है, तब तक मोक्ष की प्राप्ति या मोक्षसाधन की स्थिति भी सम्भव नही है। मोह को राजा की उपमा शास्त्रो मे अनेक जगह दी गई है (द्र पद्मनंदि-पंचविशति 1/121)। अज्ञान को मोह-राजा का मंत्री बताने के पीछे मोह और अज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करने का उद्देश्य है। अनादि मोह के कारण ही व्यक्ति अत्यन्त अप्रतिबुद्ध/अज्ञानी बना हुआ है (द्र समयसार गा० 38 पर आत्मख्याति टीका)। आध्यात्मिक दृष्टि से मोह प्राणी की निद्रित अवस्था है, जिसके दौरान व्यक्ति अपनी अहितकारी स्थिति को जानने तथा उससे अपनी सुरक्षा करने मे असमर्थ रहता है (द्र आत्मानुशासन, 57)। मोही व्यक्ति के अज्ञानमय भावो के स्व-पर अध्यवसाय के कारण रागादि की उत्पत्ति तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि की परम्परा के माध्यम से कर्मबन्धन की प्रक्रिया प्रवर्तित होती है। (द्र आत्मख्याति गा० 89, 92, 96, 102, 127; प्रवचनसार 2/82-86, 89 व तत्त्वप्रदीपिका टीका, समाधिशतक 43, 39, पचास्तिकाय 69, 128-129, मोक्षप्राभृत, 10, ज्ञानार्णव-21/29-30, पद्मनंदिपचविशति 1/147,174, 9/26 तथा समयसार-कलश 57, 58, 121, 218, 220)।

यहाँ भावार्थ मे टीकाकार ने परमागम के परिज्ञान से अज्ञान के नाश की जो बात कही है, उसका तात्पर्य शुष्क शास्त्रज्ञान या क्षयोपशम से न होकर परमागम-शास्त्रो के अध्ययन द्वारा आत्म-स्वरूप-विषयक अज्ञान की निवृत्ति से है, जो अज्ञान अनादि-दु ख-सन्तति का मूल है। वस्तुत तो जिनवाणी के परिज्ञान की सार्थकता व सार आत्मपरिज्ञान मे ही है। कविवर प० दौलतराम ने 'छहढाला' में कहा भी है—

कोटि ग्रंथ कौ सार यही है, ये ही निजवाणी उचरौ है।
'दौल' ध्याओ निज आतम को, मुक्ति रमा तोहै वेग वरै है ॥

उत्थानिका—शरीरद पोल्लमेयं पेळ्दपरु—

किं चाशुचौ शुचि-सुगन्धि-रसादिवस्तु,
यस्मिन् गतं नरकता समुपैति सद्यः ।
ररम्यते तदपि मोहवशाच्छरीरं,
सर्वैरहो विजयते महिमा परोऽस्य ॥14॥

टीका—(किंच) मत्तेनेदोडे (अशुचौ) अशुचियागियु (शुचि-सुगन्धि-रसादिवस्तु) शुचियु सुगन्धियुमप्प रसादि वस्तु (यस्मिन् गतम्) आवुदोदु शरीरक्के सददु (नरकताम्) फोदप्पातगे (सद्य) आगळे (समुपैति) अवश्य सल्गु (मोहवशात्) चारित्रमोहवशदि (तदपि शरीरम्) मत्ता शरीर (ररम्यते) आत्मनतिशयदि रमियिसुगु । (अहो) आश्चर्यम् ! (पर) मिक्का (अस्य) ई मोहद (महिमा) पेर्मे (सर्वै) एल्लाप्रकारगळि (विजयते) गेल्गु ।

भावार्थ—दर्शन-चारित्रमोहोदयवशगतनेल्ला पोल्लमेय सैरिसिगुमेबुदु सूत्रार्थम् ।

उत्थानिका—शरीर की अपवित्रता का वर्णन करते है—

खण्डान्वय—शुचि-सुगन्धि-रसादिवस्तु=पवित्र और सुगन्धित इत्र-तैलादि वस्तुएँ, च=भी, यस्मिन् गतम्=जिसमे डाली जाने पर, सद्य=तुरन्त ही, नरकताम्=नरकपने को, समुपैति=प्राप्त हो जाती है (तब फिर), अशुचौ किम्=अशुचि पदार्थो (का तो कहना ही) क्या ? तत्=ऐसे उस (अपवित्र), शरीरम्=शरीर मे, अपि=भी, सर्वै=सभी जीवो द्वारा, मोहवशात्=मोह के वशीभूत होकर, ररम्यते=बारम्बार रमण किया जाता है। (यह सब) अहो=(खेद-जनित) आश्चर्य है, अस्य=इस मोह की, पर=उत्कृष्ट/अद्भुत, महिमा=महिमा, विजयते=विजयी हो रही है ।

हिन्दी अनुवाद(टीका)—फिर बात ही क्या अशुचिरूप(पदार्थों की, जबकि) पवित्र एव सुगन्धित ऐसी रसादि वस्तु जिस किसी शरीर मे डाली जाती है, वह उसी समय नरकावस्था को प्राप्त हो जाती है। (तथापि) चारित्रमोह के वश होकर पुन. (उसी शरीर को ऐसा जानते हुए भी) स्वय अतिशयपूर्वक रमण किया जाता है। आश्चर्य है,

इस मोह की उत्कृष्ट महिमा हर तरह से विजयी हो रही है !

भावार्थ—दर्शन-चारित्र मोहनीय के उदय के वश में होकर हर तरह की अपवित्रता सहन करनी पडती है—यह सूत्रार्थ है।

विशेष—प्रस्तुत छन्द मोही जीव के अविवेकी आचरण का सुन्दर निदर्शन है। इसमें अपवित्रता की पराकाष्ठा को प्राप्त शरीर मे जीव की अत्यधिक आसक्ति को मोह का प्रतिफल बताया गया है। शरीर स्थूल रूप मे जीव का सर्वाधिक निकटवर्ती परपदार्थ है तथा अन्य जगत् से सपर्क का माध्यम भी है। अत यदि जीव शरीर से उपयोगात्मक सम्बन्ध तोड़ ले तो समस्त जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद के लिए अन्य कुछ नही करना पड़ेगा। इसीलिए सम्पूर्ण आगम में शरीर का अशुचित्व वर्णित है। पद्मनन्दि-पचविंशतिका मे एक ऐसा ही छन्द मिलता है (24/2), वहाँ 'मोही जीव' की जगह 'रागीजन' शब्द का प्रयोग है।

शरीर के अशुचित्व को द्वादश अनुप्रेक्षाओ में भी अनेक आचार्यों ने विविध रूपो मे वर्णित किया है। किन्तु वहाँ यह सार रूप मे सर्वत्र निष्पादित है कि 'शरीरादि अशुचि है और एक निजचैतन्यात्मतत्त्व एव उसकी प्राप्ति का साधनभूत वीतराग धर्म ही शुचि है।' (द्र द्रव्य-सग्रह 35, भगवती आराधना 1820-37, बारस अणुवेक्खा 43-46; स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा 83-87 तथा मूलाचार 726-27)।

शरीर के प्रति जीव की आसक्ति ही मोह है, जिसके कारण जीव अन्धे व्यक्ति के समान गुण-दोष के विवेक से रहित हो जाता है। (आत्मानुशासन, 175, प्रशमरतिप्रकरण, 40)

शरीरगत उक्त रूप अनुचितन सवेग और वैराग्य का कारण माना गया है (ज्ञानार्णव 2/6, 191-192, आदिपुराण 21/99, मोक्षप्राभृत 12, 66), जो कि ध्यान-प्राप्ति की पात्रता के निर्माता है। (द्र. समयसारकलश 23, प्रवचनसार 2/67-70)।

उत्थानिका—बहिर्मुखलोकवेय्दुववस्थेय पेळ्दपरु—

अज्ञान-घोरसरिदम्बुनिपातमूर्ति,
दुर्मोच-मोहगुरुकर्दम-दूरमार्गम् ।
जन्मान्तकादिमकरैरुरुगृह्यमाणम्,
विश्व निरीशमवश सहतेऽति-दु खम् ।।15।।

टीका—(अज्ञान) विपरीतज्ञानमेंब (घोर) कडिदप्प (सरित्) तोरेय (अम्बु) नीरोळु (निपातमूर्ति) बील्वुदने मूर्तियागियुल्लुदु (दुर्मोच) बिडिसल्करिदप्प (मोह) दर्शन-चारित्रमोहनीयमेंब (गुरुकर्दम) पेर्च्चिद केसरोलु (दूरमार्गम्) नेलेगाणे मुलिदुदु (जन्मान्तकादिमकरै) उत्पत्ति-विनाशादि क्रूरमकरंगळिं (उरुगृह्यमाणम्) लेसागि कैकोळ्पट्टदुमप्प (विश्वम्) सकलजगमु (निरीशम्) अनाथमप्पुदं (अवशम्) वशमल्लदे (अतिदु खम्) पिरिदप्प दुक्खमं (सहते) सैरिसुदेदु नोडु ।

भावार्थ—संसारदोळु सुखामिल्लेबुदर्थम् ।

उत्थानिका—बहिर्मुख विश्व की दुरवस्था का निरूपण करते है—

खण्डान्वय—विश्वम् = यह लोक/समस्त ससारी जीव, अज्ञान-घोरसरिदम्बुनिपातमूर्ति = अज्ञानरूपी भयकर नदी के जल मे पडे हुए व्यक्ति के समान है, (जो कि) दुर्मोचमोहगुरुकर्दमदूरमार्गम् = जिससे छूटना कठिन है—ऐसे मोहरूपी अत्यधिक दलदल के कारण अपने मार्ग मे च्युत हो गया है, (तथा) जन्मान्तकादिमकरै. = जन्म-मरण आदि मगरमच्छो के द्वारा, उरुगृह्यमाणम् = भली प्रकार उदरस्थ किया जा रहा है। (फलस्वरूप) निरीशम् = अनाथ, अवशम् = विवश (होकर), अति दु ख सहते = अत्यन्त दु ख सहन कर रहा है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—विपरीतज्ञानरूपी गहरी नदी के जल में गिरायी गयी मूर्ति के समान ही(अपने आपको)छुडाने मे असमर्थ(तथा) दर्शन-चारित्र-मोहनीय रूपी अत्यधिक कीचड (दलदल) से पार को न प्राप्त कर सकनेवाला तथा उत्पत्ति-विनाश (जन्म-मरण) आदि क्रूर मगरमच्छो के द्वारा अच्छी तरह पकडा जाता हुआ (यह) सम्पूर्ण जीव-जगत् अनाथ व्यक्ति के समान वशरहित (बेबस) होकर अत्यन्त दु ख सहन कर रहा है—ऐसा साक्षात् देखो।

भावार्थ—संसार में (कही भी) सुख नही है—यह अर्थ है।

विशेष—दुःख सहने की मजबूरी सामान्यत बहिरात्मा प्राणियों की है। उन्हे अनादि मोह के कारण अनात्मभूत शरीर व अन्य भौतिक पदार्थों मे आत्म-भावना उत्पन्न होती है (द्र समाधिशतक, 7)। इसी 'स्व-पर-अध्यवसाय' के कारण अज्ञान की दृढता मे वृद्धि होती है, फलत· अन्य चेतन-अचेतन द्रव्यो में 'ममत्व' बढता है (द्र समयसार, 324-327 की आत्मख्याति; समाधिशतक, 11-14, प्रवचनसार 2/91, मोक्षप्राभृत, 10)। इससे इन्द्रियो तथा विषयो के साथ रागात्मक सम्बन्ध जितना बढना है, आत्मविस्मृति भी उतनी ही बढती जाती है (समाधिशतक 16, ज्ञानार्णव, 21/14)। बारम्बार विषय-प्रवृत्ति से अज्ञान-जन्य संस्कार इतना दृढ हो जाता है कि प्राणी इन्द्रियानुगामी होने के लिए विवश हो जाना है (समाधिशतक, 38-45) और यही इन्द्रिय-विषयो की चाह स्वय दु खरूप होती है तथा दु खपरम्परा का बीज बन जाती है (उत्तरपुराण, 69/48)। इस रीति से अज्ञान व मोह का बीज प्राणियो मे रागद्वेषादि प्रवृत्तिरूप विषवृक्ष बन जाता है (आत्मानुशासन, 182), जिसका प्रत्येक स्पर्शमात्र दु खमय है तथा फल मात्र अनन्त दु खों का समूह।

इसीलिए आचार्यों ने अज्ञान-मोह की सन्तति को 'दुरन्त' (अत्यन्त भयानक फल देने वाला) कहा है (आदिपुराण, 4/25)।

'मोह' को 'कर्दम' (कीचड) की उपमा ज्ञानार्णव मे भी दी है(21/11,20/10)। तथा ममत्वयुक्त व्यक्ति ही अवश होता है, मोहरहित तो 'स्ववश' हो जाता है। इसी प्रकार निजनाथ को जाने बिना जगत् अनाथ ही है। अत 'निरीश' पद का प्रयोग भी सुसगत है।

उत्थानिका—विज्ञान-विकलजनर नेगळ्तेय पेळ्दपरु—

अज्ञानमोहमदिरां परिपीय मुग्धम्,
हा हन्त ! हन्ति परिवल्गति जल्पतीष्टम् ।
पश्येदृशं जगदिदं पतितं पुरस्ते,
किं कूर्दसे त्वमपि बालिश ! तादृशोऽपि ।।16।।

टीका—(मुग्धम्) हेयोपादेयविकळतेयेतवकुमन्ते (अज्ञान-मोह-मन्दिराम्) विपरीतज्ञानोन्मत्तकोपेतदर्शन-चारित्रमोहाभिधान-कादम्बरीय (परिपीय) आकण्ठप्रमाण पीर्दु (हा) कष्ट (हन्त !) एले कन्द ! (हन्ति) निश्चयदि सत्त्वावबोधचैतन्यादिनिजजीवगतभाव-प्राणगळ, व्यवहारदि परजीवगळ कोल्गु (परिवल्गति) गम्यागम्यादि विषयगळ्गे सुत्तिर्रिगु (जल्पति इष्टम्) अवाच्यगळ मिच्चिदंते नूडिग। (ते) निन्न (पुर) मुन्दे (पतितम्) सौक्किदर्द (ईदृशं जगद् इदम्) इनप्प जगम (पश्य) नोडु (किं कूर्दसे) ये के मेरेदाडिदपे (त्वम् अपि) नीनु मत्ते (बालिश!) एले अतिबालक ! (तादृशोऽपि) अज्ञानि-जनदतनप्पे ।

भावार्थ—"चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादि-दोस-परिहरण ।
चक्खू होइ णिरत्थो, दट्ठूण विले पडीतस्स ।"

स्वतत्त्वमनरिदु विभावक्के सल्वडे काणुत्त कुळियोळ बिरदन पोल्कुमेबुदु सूत्रद तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—ज्ञानविशेष अर्थात् भेदविज्ञान से रहित मनुष्य की प्रवृत्ति बतलाते हैं—

खण्डान्वय—अज्ञानमोहमदिराम्=अज्ञान और मोह रूपी शराब का, परिपीय=अत्यधिक पान करके, मुग्धम्=(जो व्यक्ति) मूढ/विवेकरहित (हुआ है), हा हन्त !=अत्यन्त खेद की बात है (कि वह व्यक्ति), हन्ति=मारता है, परिवल्गति=इधर-उधर दौडता फिरता/भटकता है, इष्टम् जल्पति=(अनुचित बात को भी) अभीष्ट कहने रूप बकवास करता है। ते=तुम्हारे, पुर—सामने, पतितम्=पतन को प्राप्त, इदम्=इस, जगत्=लोक को, पश्य=देखो। बालिश !=हे मूर्ख ! त्वमपि=तुम भी, तादृशोऽपि=उन अज्ञानियों जैसी ही, किं कूर्दसे=उछलकूद क्यो कर रहे हो ?

हिन्दी अनुवाद (टीका)—हेय और उपादेय के भेदज्ञान से रहित व्यक्ति की तरह विपरीत ज्ञान से उन्मत्तपने को प्राप्त होकर दर्शन व चारित्रमोहनीय नामक मदिरा का आकण्ठ पान करके, कष्ट है, अरे अज्ञानी ! (तू) निश्चय नय की अपेक्षा सत्त्व के परिज्ञानरूप चैतन्य आदि निजजीवगत भावप्राणो का तथा व्यवहार से अन्य जीवो का घात करता है, (और) गम्य-अगम्य आदि विषयक्षेत्रो में भटकता रहता है, न बोलने योग्य-ऐसी बातो को पसन्द करता है। (अरे मूढ !) अपने सामने दुर्दशा को प्राप्त इस ऐसे जग को देखो। (अब भी) क्यो इठला रहे हो ? तुम भी अज्ञानियो के समान अत्यन्त बालबुद्धि (हो)।

भावार्थ— "आँख और दृष्टि का यही सार या उपयोगिता है कि वह व्यक्ति को सर्प आदि से होनेवाले दोषो (हानियो) से बचाती है। देखने के बाद भी गड्ढे मे गिरनेवाले व्यक्ति की आँखे निरर्थक होती है।"

स्वतत्त्व को जानकर भी विभाव को प्राप्त होते हो, तो देखने के बाद भी गड्ढे मे गिरने जैसी बात होगी—ऐसा सूत्र का तात्पर्य है।

विशेष—इस छन्द मे भेदविज्ञानरहित जीव की दशा वर्णित है। समाधिशतक (38,93) मे भी भेदविज्ञानरहित जीव को उन्मत्त कहा गया है। जैसे कोई जगज्जन मदिरा पीकर उन्मत्त हो नाचता कूदता है (कूर्दसे), मारपीट करता है (हन्ति), अनाप-शनाप बकता है (जल्पति), और अन्तत जमीन पर बेहोश पड जाता है (पतितं पुरस्ते), वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति विषयभोगादिक मे अत्युत्साह दिखाकर अन्तत दुर्दशा को प्राप्त होता है। छन्द मे 'कूर्दसे' पद से अविवेकी प्राणी की स्वच्छन्द वृत्ति व चचलता का बोध होता है। ऐसे अविवेकी प्राणी को वास्तव मे लज्जित होना ही चाहिए, क्योकि अनियन्त्रित मन वाले व्यक्ति के तप-संयम-शास्त्रज्ञान आदि सभी व्यर्थ है। (द्र ज्ञानार्णव, 20/27, भगवती आराधना, 776-777) अत उसे 'बालिश' या बेवकूफ कहकर उसकी प्रताडना उचित ही है। क्योकि जगत् की दुरवस्था देखकर भी जिनका चित्त किंचिदपि विचलित न हो, उनकी बौद्धिक स्थिति पर तरस खाने या डाँटने के सिवाय किया ही क्या जा सकता है ?

उत्थानिका—परवस्तुजनितसंकल्पमे दु:खमेंदु पेळ्दपरु—

> **वैरी ममायमहमस्य कृतोपकारः,**
> **इत्यादि दुःखघनपावकपच्यमानम् ।**
> **लोकं विलोक्य न मनागपि कंपसे त्वम्,**
> **क्रन्दं कुरुस्व बत तादृश कूर्दसे किम् ? ॥17॥**

हिन्दी अनुवाद(टीका)—(वैरी) पगे (मम)एनगे (अयम्) ईत (अहम्) आनु (अस्य) ईतगे (कृतोपकारः)माडेपट्टुपकारमनुळ्ळ नेदु (इत्यादि) इदु मोदलागोडेय (दु खघनपावकपच्यमानम्) सकल्पदु खमेव पेर्चिद किच्चिद बेवुत्तमिर्द (लोकम्) अज्ञानिलोकम (विलोक्य) नोडि (मनागपि) किरिदनप्पोडम् (न कम्पसे) नडुगे। (त्वम्)नीम(क्रन्दं कुरुस्व) भयदि नळ्केय माडु (बत!) अक्कटा! (तादृश) अज्ञानिजनदन्नने (कूर्दसे किम्) मेय्मरदेके कुणिदपे ?

भावार्थ—अनन्तदु खहेतुवप्पुदरि पराश्रितशुभाशुभसंकल्पमे दु खमेबुदु सूत्रार्थम् ।

उत्थानिका—परवस्तुजनित सकल्प मात्र दु खस्वरूप है—यह बतलाते है—

खण्डान्वय—अयम्=यह, मम=मेरा, वैरी=शत्रु है, अहम्=मैंने, अस्य=इसका, कृतोपकार=उपकार किया है, इत्यादिदु खघन-पावकपच्यमानम्=इत्यादि रूप दु ख की भयकर ज्वाला मे जलने वाले, (इस), लोक=जगत् को, विलोक्य=देखकर, त्वम्=तुम, मनागपि =जरा भी, न कम्पसे=कपित नही होते हो ? (अरे!), क्रन्द कुरुस्व= तुम रोओ, (किन्तु), बत=अत्यन्त खेद की बात है कि, तादृश=उन्ही (जगत् के अज्ञानी जीवो) के समान, (तुम भी) किम्=क्यो, कूर्दसे= उछलकूद कर रहे हो ?

हिन्दी अनुवाद(टीका)—'यह मेरा शत्रु है' (अथवा) 'मैं इसके द्वारा किये गयेउपकार को मानता हूँ'—इत्यादि रूप संकल्पजन्य दु ख की अत्यन्त भयंकर आग से जलने वाले अज्ञानी जगत् को देखकर किंचित् मात्र भी नही कॉपते हो ? तुम (तो) भय से क्रन्दन करो। हाय! अज्ञानी जनो की भाँति अपने आपको भूलकर (इस दुखमय संसार में ही संतुष्ट होकर प्रसन्नता से) क्यो नाच रहे हो ?

भावार्थ—अनन्तदु ख का हेतु होने से पराश्रित शुभ रूप व अशुभ रूप संकल्प मात्र दु.खरूप ही है—ऐसा सूत्रार्थ है।

विशेष—'यह मेरा वैरी है', 'यह मेरा उपकारक है' अथवा 'मैं इसका बुरा करूँगा' या 'मै इसका भला करूँगा'—इत्यादि अज्ञानमय राग-द्वेषादिरूप भाव भयंकर अग्नि के समान अत्यन्त दु खदायी है। आचार्य ने शुभाशुभ सकल्प का फल तो दु ख माना ही है, साथ ही, संकल्पमात्र को दुःखस्वरूप कहा है। आगम में विषयो में तृष्णा बढाने वाली प्रवृत्ति को 'संकल्प' कहा है, जो कि अपध्यान व दुःखद कर्मबन्ध का हेतु है (द्र. आदिपुराण, 21/25 तथा पद्मपुराण, 14/79)।

प्रस्तुत छन्द में 'मनागपि न कम्पसे' वाक्याश द्वारा अज्ञानी प्राणियो द्वारा जगत् की प्रत्यक्ष दुर्दशा देखकर जरा भी विचलित या या भयभीत न होने के प्रति खेद व्यक्त किया गया है। यह भी मोह का ही प्रभाव-विशेष है कि जीव अहित-मार्ग से निकलने का उपाय भी नहीं सोचता (द्र. उत्तरपुराण, 49/4)।

सक्षेपत समस्त पर-पदार्थ-सम्बन्धि प्रशस्त या अप्रशस्त रूप ममत्व कर्मबन्ध का ही हेतु है (द्र समाधिशतक, 43; मोक्षप्राभृत, 13), अत पर-पदार्थों से ममत्व तोडना चाहिए तथा शुभाशुभ-सकल्प को दु ख-रूप समझकर उससे बचना चाहिए (द्र पद्मनदि-पचविशति, 1/145, 11/20) और सुखस्वभावी आत्मा की निश्चल अनुभूति प्राप्त करने हेतु यत्न करना चाहिए। आचार्य आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं कि इतने दु ख भोगने के बाद भी जीव शुभाशुभ भाव की उछल-कूद मे ही मग्न है, जबकि उसे अपनी दुर्दशा पर रोना चाहिए। वस्तुतः यहाँ आचार्य की स्वय की ही पीडा व्यक्त हो रही है। कहा भी है—

"भाई भविजन तेरे दु ख को देख के ज्ञानो की आँख भरि आवै।"

उत्थानिका—मोहमारिगेलेपडदेदुब्बेग बड़ुवगे दृष्टान्तपूर्वकमुत्तरमं पेळ्दपरु—

> **नो जीयते जगति केनचिदेष मोहः,**
> **इत्याकुलः किमसि सम्प्रति रे ! वयस्य।**
> **एकोऽपि कोऽपि पुरतः स्थितशत्रुसैन्यम्,**
> **सत्त्वाधिको जयति, शोचसि किं मुधा त्वम् ॥18॥**

टीका—(नो जीयते) गेलेपडदु (जगति) लोकदोळु (केनचित्) आवनि (एष मोह) ई मोहनीयमिदु (इति)*इतेंदु (आकुल) आकुलचित्त (किमसि) एकादे ? (सम्प्रति) ईगळे (रे वयस्य !) एले केळेय ! (सत्त्वाधिक) सत्त्वाधिकनु (एकोऽपि कोऽपि) एकैकमप्पोर्वनावनोर्व (पुरत स्थित) मुन्दिर्द (शत्रुसैन्यम्) पगेय सेनेय (जयति) गेल्गु, (त्वम्) नीम (मुधा) बरिदे (कि शोचसि) एके दु ख बड़ुवे ?

भावार्थ—विमलाखण्डैकनिजचित्तानुगतपरिणामोपेतनोर्वनु, विपरीतज्ञानकळिनमोहराजननन्तर्मुहूर्तदोळु लीलेयि गेल्गुमेबुदु नित्यानन्द योगीन्द्रदेवरभिप्रायम्।

उत्थानिका—'किसी से भी मोह को नही जीता जायेगा'—ऐसी मान्यता से व्याकुल व्यक्ति को दृष्टान्तपूर्वक उत्तर देते है—

खण्डान्वय—रे वयस्य ! =हे प्रिय मित्र !, जगति=लोक में, एष मोह =यह मोह, केनचिद्=किसी के द्वारा भी, नो जीयते=नही जीता जाता है, इति=ऐसा (विचार करके), सम्प्रति=अब, आकुल = व्याकुल, किमसि=क्यो हो रहे हो ? पुरत स्थित=सामने विद्यमान, शत्रुसैन्यम्=शत्रु की सेना को, सत्त्वाधिक कोऽपि एकोऽपि=अतुल बलशाली कोई भी अकेला व्यक्ति, जयति=जीत सकता है। त्वम्= तुम, मुधा=व्यर्थ मे ही, कि शोचसि=क्यो दु खी होते हो ?

हिन्दी अनुवाद (टीका)—'नही जीता जायेगा लोक मे किसी के भी द्वारा यह मोहनीय कर्म' इस प्रकार से आकुलित चित्त वाले क्यो हुए हो? अभी यहाँ तो अरे प्रिय मित्र ! अधिक बलशाली अकेला भी कोई व्यक्ति सामने खडी हुई शत्रु की सेना को जीत लेगा। तुम व्यर्थ क्यो दु खी हो रहे हो ?

भावार्थ—निर्मल अखण्ड एक निज चैतन्य तत्त्व का अनुसरण करने वाले परिणाम से युक्त जीव, विपरीत ज्ञान से युक्त मोह-राजा को अन्तर्मुहूर्त में लीलामात्र में जीत लेता है—ऐसा नित्यानन्दमय योगीन्दुदेव का यहाँ अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्य वात्सल्यपूर्वक यह समझा रहे है कि सामान्यत तो मोह को जीतना कठिन है, किन्तु इससे हताश होने की जरूरत नही है। मोह की शक्ति है ही कितनी, जबकि जीव अनन्त शक्ति का स्वामी है। अत. अपने स्वरूप की अपार सामर्थ्य (सत्त्वाधिक होने) को पहिचान लो, फिर मोह की सम्पूर्ण सेना को भी जीतना कठिन नही होगा।

मोह की महिमा तो असज्ञी जीवो के लिए विशेषत बतायी है, जिन्हे चाहकर भी अपने स्वरूप की सामर्थ्य का बोध कर सकने की क्षमता नही है। सज्ञित्व प्राप्त करके व वीतरागी देव-गुरु-धर्म का समागम प्राप्त करने के बाद भी यदि निजात्मा की अनन्त शक्ति का बोध न हो, तो फिर मोह हावी रहेगा ही। सज्ञीपना व वीतरागी देव-गुरु-धर्म का समागम तो स्वरूप की सामर्थ्य पहिचानने मे ही सार्थक होता है। अत स्वरूप-बोध-प्राप्ति का पुरुषार्थ करने की प्रेरणा यहाँ दी गयी है।

आगे के छन्दो मे आचार्य ध्यान-योग आदि की विवेचना करने जा रहे है, अत पुरुषार्थ की प्रमुखता उचित ही है। आगम ग्रन्थो मे भी ध्यानावस्था की प्राप्ति हेतु उत्साह, दृढ निश्चय तथा धैर्यपूर्वक पुरुषार्थ को साधनरूप बताया गया है (द्र ज्ञानार्णव, 20/1)।

पडितप्रवर टोडरमल जी ने भी कहा है कि—"पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय मे उपयोग लगाये तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है। जो ऐसे पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है, उसे सर्वकारण मिलते हैं और उसे अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है—ऐसा निश्चय करना (द्र मोक्षमार्ग प्रकाशक, अ 9, पृ 310-311)।

उत्थानिका –मोहवैरियं गेल्वुपायम पेळ्दपरु–

मुक्त्वाऽलसत्वमधिसत्त्व-बलोपपन्नः,
स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम् ।
सज्ज्ञानचक्रमिदमग ! गृहाण तूर्णम्,
अज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपूपमर्दि ॥19॥

टीका—(मुक्त्वाऽलसत्वम्) अलसुगारतनमं बिट्टु (अधिसत्त्व) निजपरमात्माधिगम सम्यक्त्वमेब (बलोपपन्न)सेनेयोळ कूडि (पराम्) मिक्क (समताम्) सहजात्मतत्त्वनिश्चलानुभूतिरूपमप्पनिश्चय-समता, बहिरंगसहकारिकारणभूतमृति-जीवन-निंदा-सस्तुति-रिपु-बंधुजन-लोष्ठ-कांचन-संसारदुःख-सौख्यततिसमदर्शीरूप समतेयेब (कुलदेवता च) कुलदेवतेयुम (स्मृत्वा) नेनदु (अज्ञानमन्त्रियुत) विपरीत-ज्ञानमेबमन्त्रियोळ कूडिद (मोहरिपु) मोहनीयमेब पगेय (उपमर्दि) पीडिसल्के तक्क (सज्ज्ञानचक्रमिदम्) सम्यग्ज्ञानमेबी चक्रम (अग !) एले मगने (त्वम्) नीम (तूर्णम्) शीघ्र (गृहाण) कैकोळ्ळु ।

भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानदिनल्लदे मोहरिपुवं गेलवारिदेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—मोह-वैरी को जीतने का उपाय बतलाते है—

खण्डान्वय—अलसत्वम्=आलस्य को, मुक्त्वा=छोडकर, अधि-सत्त्वबलोपपन्न =स्वरूपबोधरूपी सैन्यबल से युक्त होकर, च=और, पराम्=उत्कृष्ट, समता कुलदेवताम्=समतारूपी कुलदेवता का, स्मृत्वा=स्मरण करके, अग !=हे पुत्र ! त्वम्=तुम, तूर्णम्=शीघ्र ही, इदम्=इस, सज्ज्ञानचक्रम्=सम्यग्ज्ञानरूपी चक्ररत्न को, गृहाण=ग्रहण करो, (जो कि) अज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपूपमर्दि=अज्ञानरूपी मंत्री सहित मोहराजा रूपी शत्रु को परास्त करने वाला है ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—आलस्य भाव को छोडकर निजपरमात्म-तत्त्व के ज्ञान अर्थात् सम्यक्त्वरूपी सेना से युक्त होकर उत्कृष्ट, सहज आत्मतत्त्व की निश्चल अनुभूतिरूप निश्चयसमता तथा सहकारी कारण-भूत मृत्यु-जीवन, निंदा-सस्तुति, शत्रु-बाधव, पत्थर-स्वर्ण एवं संसार के दुःख-सुख आदि मे समदर्शित्व भावरूप बहिरंग समता रूपी कुलदेवता

का स्मरण करके विपरीत ज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूपी मंत्री के साथ-साथ मोहनीय जैसे शत्रु को भी पीडित/परास्त कर सकते हो। (अतः) हे पुत्र! सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को तुम शीघ्रता से ग्रहण करो।

भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के बिना मोहरूपी शत्रु को जीतना असंभव है—ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे ध्यान-साधना के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कटिबद्ध होने की प्रेरणा दी गई है। आत्मध्यान-साधना के लिए साधनरूप मे चार चीजों का वर्णन इसमें है—(1) आलस्य का त्याग, (2) शुद्धात्मतत्त्व रूपी स्वलक्ष्य की दृढ रुचि, (3) समता-स्मरण और (4) सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को प्राप्त करना।

प्रमाद कार्यसिद्धि का प्रथम बाधक तत्त्व है। उत्तम साधनो की प्राप्ति के बाद भी प्रमादी जीव मार्ग-च्युत हो जाता है (द्र. ज्ञानार्णव, 2/184), अत उसका त्याग प्रथमत आवश्यक है। तथा रुचि या श्रद्धान के बिना यत्नारम्भ नही होता है, क्योंकि जिसके प्रति श्रद्धा/रुचि होती है, उसी के प्रति बुद्धि प्रवर्तित होती है; फलत चित्त उसी में लीन हो जाता है। (द्र० समाधिशतक, 95)। किसी भी अभियान पर प्रस्थान से पूर्व कुलदेवता का स्मरण आवश्यक होता है, यहाँ 'समता' रूपी देवी साधना का मार्ग भी है और लक्ष्य भी है। परमात्म तत्त्व की उपासना ही 'साम्य' या 'समता' है (द्र. पद्मनंदि पचविंशति, 4/63) और यही साम्य परम कार्य (लक्ष्य) और परमात्मतत्त्व है (वही, 4/66)। तथा सम्यग्ज्ञान को शत्रुनाशक अस्त्र के रूप में जैनशास्त्रो मे अनेकत्र वर्णित किया गया है (द्र आत्मानुशासन, 182, समयसार 294, राजवार्तिक, 1/8/3; भाव-पाहुड, 157)। ज्ञानार्णव मे 'ज्ञानाऽसि' अर्थात् ज्ञानरूपी तलवार के रूप में मोहशत्रुनाश के लिए इसका उल्लेख है। (द्र 2/4, 22/1-3)।

यहाँ निष्कर्षतः स्वसंवेदन ज्ञान की प्राप्ति का पुरुषार्थ अविलम्ब प्रारम्भ करने का आदेश आचार्य ने दिया है।

उत्थानिका—मत्त मोहरिपुव गेल्लुपायंगळं पेळ्दपरु—

सत्त्व हि केवलमलं फलतीष्टसिद्धि,
युक्तं तया समतया यदि क परस्ते ?
एतद्द्वयेन सहित यदि बोधरत्नम्,
एकस्त्वमेव पतिरग ! चराचराणाम् ॥20॥

टीका—(सत्त्वम्) निजपरमात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्व (हि) नेट्टने (केवलम्) ओन्दे (अलम्) अत्यर्थ (इष्टसिद्धि) स्वर्गापवर्गफल-रूपेष्टार्थफलसिद्धिय (फलति) फलिसुगुमदु। (तया) पूर्वसूत्रोक्त (समतया) समता भावनेयिं (यदि) एल्लियानु (युक्तम्) कूडिदुदादोडे (बोधरत्नम्) निजनिरंजनपरमात्मतत्त्वपरिच्छित्तिरूपबोधरत्न (अग) एले पुत्र ! (एकस्त्वमेव) नीनोर्वने (चराचराणाम्) निखिलचराचर-ससारिजीवगळगे निक्कुन (पति) स्वामियप्पे।

भावार्थ—रत्नत्रयाराधनेयिनल्लदे मोहरिपुवु जयमागदेबुदु सूत्रार्थम्।

उत्थानिका—फिर से मोहरूपी शत्रु को जीतने के उपाय बतलाते हैं—

खण्डान्वय - केवलम्=मात्र, सत्त्वम्=सत्त्व/पराक्रम, हि=वास्तव मे, अलम्=पर्याप्त है, (क्योकि उससे ही) इष्टसिद्धि=इष्ट पदार्थ की प्राप्ति, फलति=फलित होती है। यदि=यदि (वह सत्त्व), तया समतया=उस पूर्वोक्त समता से, युक्तम्=युक्त है (तो) ते=तुमसे, पर=श्रेष्ठ, क=अन्य कौन (हो सकता है ?), एतद्द्वयेन=(पराक्रम और समता) इन दोनो के, सहितम्=साथ, यदि=यदि, बोधरत्नम्=सम्यग्ज्ञानरूपी रत्न (भी हो तो) अग !=हे पुत्र ! एकस्त्वमेव=एक तुम ही, चराचराणाम्=चर और अचर प्राणियो के, पति=अधिपति/स्वामी (होगे)।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—निजपरमात्मतत्त्व का रुचिरूप निश्चय-सम्यक्त्व वस्तुत अकेला ही (मोहनाश को) पर्याप्त है। (वही) स्वर्ग व मोक्ष फलरूप इष्टसिद्धि प्रदान करेगा। (और) वह पूर्वसूत्र (छन्द) में कथित समता भावना से यदि सयुक्त हो, निजनिरंजन-परमात्मतत्त्व

की परिच्छित्ति रूप ज्ञानरत्न हो (तो) हे पुत्र ! तुम अकेले ही सम्पूर्ण चराचर रूप संसारी जीवो के समूह के स्वामी होगे।

भावार्थ—रत्नत्रय की आराधना के बिना मोहरूपी शत्रु जीता नही जायेगा—ऐसा सूत्रार्थ है।

विशेष—प्रस्तुत छन्द मे मोहविनाश के लिए निश्चयरत्नत्रय की स्थापना की गयी है। पिछले छन्द मे ज्ञान की प्रधानता से कथन था, किन्तु श्रद्धान व आचरण उसमे गर्भित था। यहा स्पष्टोक्ति है। यहाँ 'सत्त्व' पद निश्चय सम्यग्दर्शन का प्रतीक है। उसे साधना की सफलता के लिए पर्याप्त माना गया है। किन्तु सम्यक्त्व के साथ बोधरूपी रत्न और समता की युति को अद्वितीय लब्धि बताया गया है। इसमें बोध तो पूर्वसूत्रोक्त स्वसवेदनज्ञान ही है। तथा 'समता' शुद्धोपयोग या आत्मलीनतारूप समाधि की पर्याय है। क्योकि स्व में स्थिरता (स्वास्थ्य), समाधि, चित्तनिरोध व शुद्धोपयोग—ये सभी समता के पर्यायवाची माने गये है (द्र पद्मनन्दि पचविंशति, 4/64)।

इस प्रकार निजात्मा का श्रद्धान (सत्त्व), स्वसवेदनज्ञान (बोध) और शुद्धात्मलीनता (समता) रूपी निश्चय रत्नत्रय ही मोहविनाश मे समर्थ साधन है—यह प्रस्तुत पद्य का प्रतिपाद्य है।

निश्चय रत्नत्रय का धारी जीव छद्मस्थ होते हुए अतरग वीतराग-स्वभाव का परिणनिवान् होने से वस्तुत अकिचन होता है। और अकिचनता के बोध से युक्त व्यक्ति को आचार्य गुणभद्र ने 'त्रैलोक्याधिपति के समकक्ष' कहा है (द्र आत्मानुशासन, 1 0)। इसी क्रम मे यहाँ भी निश्चयरत्न धारण करने वाले जीव को चराचर का अधिपति होने अर्थात् अल्प काल मे परमात्मपद को प्राप्त करने का आश्वासन दिया गया है।

इस छन्द के 'यदि क परस्ते' तथा 'एतद्द्वयेन सहितम्' इन दो चरणो की टीका मूल पाण्डुलिपि मे उपलब्ध नही है।

उत्थानिका—समताभावनासामर्थ्यम पेळ्दपरु—

कालत्रयेऽपि भुवनत्रयवर्तमान-
सत्त्वप्रमाथि-मदनादिमहारयोऽमी ।
पश्याशु नाशमुपयान्ति दृशैव यस्या,
सा सम्मता ननु सतां समतैव देवी ॥21॥

टीका—(कालत्रयेऽपि) अतीतानागतवर्तमानाभिधानकालत्रयदोळ मत्ते (भुवनत्रय) मूरु लोकदोळु (वर्तमान) गतिनामकर्मोदयदि परिवर्तिसुव (सत्त्व) समस्तप्राणभूत-जीवतत्त्वगळ (प्रमाथि) मिगे मथिसुवुदने शीलमागिडल्ल (मदनादि) मन्मथमोदलाद (महारय) पेर्च्चिद रिपुगळप्प (अमी) ई वर्गळु (यस्या) आवळोर्व देविय (दृशैव) काण्केइदमे (आशु) शीघ्र (नाशम्) केडिगे (उपयान्ति) सल्गु । (पश्य) नोडु (सा देवी) आ देवियु (समतैव) समताभावनेयेदु (सताम्) सत्पुरुषर्गं (सम्मता) अक्कु ।

भावार्थ—सम्यक्त्वसमन्वितसमताराधनेये नेनेद कार्यसाध्यमेंबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—समता-भावना की सामर्थ्य का प्रतिपादन करते है—

खण्डान्वय—कालत्रयेऽपि=तीनो ही कालो मे, अमी=ये, भुवनत्रयवर्तमानसत्त्वप्रमाथिमदनादिमहारयो=तीनों लोको मे विद्यमान प्राणियो को पराभूत करने वाले कामविकार आदि महाशत्रु, यस्या = जिसके, दृशैव=देखने मात्र से ही, आशु =शीघ्र, नाशम्=विनाश को, उपयान्ति=प्राप्त होते हैं, पश्य=देखो, सा=वह,समता देवी= समता भावना रूपी देवी, एव=ही, सताम्=सज्जनो के लिए, ननु सम्मता=निश्चय ही अभीष्ट है ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—अतीत, अनागत और वर्तमान नामक तीनो कालो मे, और तीनो लोको मे 'गति' नामकर्म के उदय से परिवर्तमान समस्त प्राणयुक्त जीवतत्त्वो को अत्यधिक मथ डालने के स्वभाव वाले कामविकार आदि भयकर शत्रुरूपी ये समूह, ऐसी जिस देवी

के देखने मात्र से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होते हैं; देखो वह देवी समता-भावना ही सज्जनों के लिए अभीष्ट होगी।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन से युक्त समता की आराधना से ही वाछित कार्यो की सिद्धि हो सकती है—ऐसा यहाँ तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में काम आदि महासुभटो को अपने दृष्टि-विक्षेप मात्र से पराभूत कर देनेवाली तथा सत्पुरुषों द्वारा सम्मानित 'समता' का यशोगान किया गया है।

'काम' को शास्त्रो मे अचिन्त्य शक्ति का धारक कहा गया है, क्योकि सम्पूर्ण प्राणिलोक उसके प्रभाव मे है (पद्मनन्दि पचविं॰ 12/1)। कामान्ध व्यक्ति आगमज्ञान, सत्य-निष्ठा तथा धैर्य आदि गुणो से विहीन हो जाता है, और कामप्रभाव से बुद्धिमान् व्यक्ति भी 'शील' को तिलाजलि देकर घृणित भोगो मे निरत हो जाते है (द्र. ज्ञानार्णव, 11/24, 27, 35)। ऐसे त्रिभुवनजयी कामसुभट (द्र. महावीराष्टक, 7) के विनाश के लिए सयम का आश्रयण रूप समताधर्म ही एकमात्र आलम्बन है (द्र प्रवचनसार 1/7, राजवार्तिक 9/18/5)। सयम के धारकजन 'समता' के धारी होते है (द्र पर॰ प्र॰ 2/67, टीका), जो कि कामादि समस्त विकारो के नाश का हेतु है। यहाँ 'समता' या 'संयम' शुद्धोपयोग की ससूचना देता है। ज्ञानार्णवकार ने भी 'साम्य' को परमध्यान कहा है (द्र. 22/13)। 'समता' से सकल्प-विकल्प नष्ट होते है, और फलस्वरूप रागादि का पुन प्रादुर्भाव नहीं हो पाता। अत बाह्य तप द्वारा करोडो जन्मो मे जिन कर्मो का क्षय किया जा सकता है, 'समता' के आश्रयण से वे निमेष मात्र मे जीते जा सकते हैं (द्र ज्ञाना॰ 22/12)। ऐसा अपूर्व माहात्म्य समता का है, जिसे प्रस्तुत पद्य मे 'देवी' कहकर बहुमानित किया गया है।

उत्थानिका—येन्नेवर समते दोरेकोळ्ळदन्नेवर मदनादि-रिपु पीडियक्कुमेबुदु पेळ्दपरु—

मल्लो न यस्य भुवनेपि समोऽस्ति सोऽयम् ,
काम करोति विकृतिं तव तावदेव ।
यावन्न यासि शरणं समता समान्तात्
सोपानतामुपगतां शिवसौधभूमे ॥2॥

टीका—(शिवसौधभूमे) मोक्षमेब धवळारवके (समन्तात्)सुत्तणि (सोपानताम्) सोपानतेगे (उपगताम्) सन्द (समताम्) समतेयं (यावत्) येन्नेवर (शरण न यासि) शरण बुगेमल्ल. प्रतिमल्ल (यस्य) आवनोर्वगे (भुवनेऽपि) मूरु लोकदोळ मत्ते (न समोऽस्ति) इल्लेब। (सोऽय काम) आ काम (तव) निनगे (तावदेव) अन्नेवर (विकृतिम्) विकारम (करोति) माळ्कु।

भावार्थ—समतेय शरणवोक्कडाव बाधेयुमिल्लेबुदर्थम्।

उत्थानिका--जब तक समता प्राप्त नही होगी, तब तक कामादि शत्रुओ की पीडा बनी रहेगी, यह बतलाते है—

खण्डान्वय—यस्य सम =जिसके समान, मल्ल =पहलवान, भुवनेऽपि =तीनो लोको मे भी, न अस्ति=नही है, सोऽयम् =वह यह, काम = कामदेव, तावदेव=तब तक ही, विकृति करोति=विकार उत्पन्न करता है, यावत=जब तक, समन्तात् =सर्वतोभावेन, समताम्= समता भावना की, शरणम् =शरण मे, न यासि=नही जाओगे। (वह समता)शिवसौधभूमे: =मोक्षरूपी महल की भूमि के लिए, सोपानताम् =सीढीपने को, उपगताम् =प्राप्त हुई है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—मोक्षरूपी महल के लिए सर्वतोभावेन सीढीपने को प्राप्त समता की जब तक शरण मे नही जाते हो, ऐसा वीरशिरोमणि जिसका (प्रतिद्वन्द्वी) तीनो लोको मे भी नही है, वह यह कामदेव तुम्हारे लिए तब तक ही विकार को कराता है।

भावार्थ—समता की शरण को प्राप्त करने वाले व्यक्ति को कोई बाधा नही हो सकती है—ऐसा अर्थ है।

विशेष—सासारिक विकारी-भाव तभी तक जीव को प्रभावित करते रहते हैं, जब तक कि वह शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति किवा समता की शरण-प्राप्ति नही कर लेता है। जगत् में सर्प के काटने से सात तरह के विकार उत्पन्न होतेहै, किन्तु 'काम' के फलस्वरूप दस विकार उत्पन्न होते हैं। अत सर्पदश की अपेक्षा कामासक्ति अधिक भयानक है। आ० शुभचन्द्र के शब्दो मे—कोई भी पिशाच, सर्प, रोग, दैत्य, ग्रह या राक्षस भी व्यक्ति को उतनी पीडा नही देता, जितनी पीडा काम-विकार देता है (द्र ज्ञानार्णव, 11/38)।

'समता' का आराधक व्यक्ति उपयोग की बहिर्मुख-वृत्तियो को नियंत्रित करके कषायो को उपशान्त कर देता है। फलस्वरूप 'काम' के प्रभाव से जीव मुक्त हो जाता है। 'समता' व 'शुद्धोपयोग' एकार्थक माने गये हैं (पद्मनन्दि पचवि० 4/64) और शुद्धोपयोग की प्राप्ति के बिना मोक्ष की कल्पना भी कठिन है, अत अन्य शास्त्रो मे भी 'समता' का 'मुक्ति के उत्कृष्ट सोपान' या 'मुक्तिद्वार' के रूप मे अनेकश उल्लेख आया है (द्र ज्ञाना० 5/18, पद्म० पंचवि० 4/67)।

अत हे भव्य जीव ! यदि तुझे संसार के दु खो से भय लग रहा हो, तथा मोक्ष की अभिलाषा हो तो 'समता' की शरण मे जा।

उत्थानिका—चारित्राराधनेयिनल्लदे सुखं दोरेकोल्लदेंदु पेळ्दपरु—

वाञ्छा सुखे यदि सखे ! तदवैमि नाहम्,
धर्मादृते भवति सोऽपि न यावदेते ।
रागादयस्तदशनं समतात एव,
तस्माद् विधेहि हृदि तां सततं सुखाय ॥23॥

टीका—(सखे !) एले केळयने ! (सुखे) सुखदोळ् (यदि वाञ्छा) एल्लियानु वाञ्छेयुल्लोडे (धर्मादृते) रत्नत्रयात्मकधर्ममिल्लदोडे (अहम्) आनु (तत्) अद (नावैमि) अरियें (यावत्) येन्नेवर (ते रागादय) आ रागादिगळ् (न) इल्लेन्नेवर (तदशनम्) आ रागादिगळ केडु (समतात एव) समतेयत्तणिनक्कु । (तस्मात) अदु कारणदि (सुखाय) स्वानुभूतिजनित-सुखनिमित्त (सततम्) निरन्तर (ताम्) आ समतेय (हृदि) मनदोळ् (विधेहि) ताळ्दु ।

भावार्थ - चारित्रमेंदड धर्ममेंदड रागाद्यभावमेंदड समतेयेंदड एकार्थम् । अदु कारणदि निश्चयसमतारूपनिजात्माराधने निरन्तर माडेपडुगुमेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—चारित्र की आराधना के बिना सुख प्राप्त नही हो सकता, यह बतलाते है—

खण्डान्वय—सखे !=हे मित्र ! यदि सुखे वाञ्छा=यदि सुख (प्राप्त करने) की इच्छा है (तो), अहम्=मै (यह), अवैमि—जानता हूँ कि, तद्=वह सुख, धर्माद् ऋते=धर्म के बिना, न भवति=नही होता है। सोऽपि=(और) वह धर्म भी, यावत्=जब तक, एते रागादय:=ये रागादि (विकारी) भाव हैं (तब तक), न=नही होता है। तद् अशनम् =उन (रागादि भावो) का भक्षण/विनाश, समतात एव=समता से ही (होता है) । तस्मात्—इसलिए (हे जीव), ताम्=उस समता को, सततम्=निरन्तर, हृदि=हृदय मे, विधेहि=धारण करो ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—अरे मित्र ! सुख मे यदि इच्छा हुई है (तो वह सुख) रत्नत्रयात्मक धर्म (की प्राप्ति) के बिना प्राप्त नही हो (सकता है) मै यह जानता हूँ ।(और)जब तक वे रागादिक समाप्त नही होते, तब तक (धर्म की प्राप्ति नही हो सकती) । इन रागादिकों का

विनाश समता से ही होगा। इस कारण से स्वानुभूतिजनित सुख के लिए निरन्तर इस समता को मन में धारण करो।

भावार्थ—चारित्र कहे, धर्म कहें, रागादि का अभाव कहे या समता कहे—ये सब एकार्थक हैं। इसलिए निश्चयसमता रूप निजात्माराधना निरन्तर करते रहना चाहिए— यह तात्पर्य है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद्य में आचार्य 'समता' के महत्त्व पर पुन. प्रकारान्तर से प्रकाश डाल रहे हैं। लोगो को लगता है कि निजात्मा का अनुभव या शुद्धोपयोग रूप समता की आराधना मात्र से तो काम नही चल जायेगा, चारित्र की शुद्धि व रागादि के अभाव के लिए भी तो कुछ करना पडेगा ? उनकी भ्रामक धारणा का सुन्दर निराकरण इसमें निष्कर्ष रूप मे दिया है कि धर्म, चारित्र, या रागादि का अभाव ये सभी समता के पर्यायान्तर होने से उसमे ही अन्तर्भूत हो जाते है। अत धर्म, चारित्र की शुद्धि या रागादि के अभाव के लिए अन्य प्रकारान्तर का अन्वेषण आवश्यक नही है, मात्र निजात्माराधना से ही सबकी सिद्धि हो जायेगी, जिसका नामान्तर 'समता' भी है।

प्रकारान्तर से विचार किया जाये, तो सुख की प्राप्ति का उपाय 'धर्म' के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, और रागादि के सद्भाव मे धर्म हो ही नही सकता, और रागादि का अभाव समता की आराधना के बिना नही हो सकता। अत. 'समता' सुख की साधन है—यह स्वत' सिद्ध है।

समता की आराधना करनेवाले साधको को, केवलज्ञान अथवा अर्हन्त अवस्था की प्राप्ति भले ही न हो पायी हो, परन्तु जो सुख उन्हें प्राप्त होता है, वह (जाति अपेक्षासे) केवली के सुख के समान ही माना गया है (द्र. ज्ञानार्णव 22/14), तथा उन्हें अल्पकाल मे ही कैवल्य व सिद्धत्व की प्राप्ति भी होती है।

उत्थानिका—कामाग्नियि बेवलोकदोळ् समतामृतमंत्रबलदि तपोधनर् तण्णनिप्परेंदु पेळ्दपरु—

> **ज्वालायमान-मदनानल-पुंजमध्ये,**
> **विश्व कथ क्वथति कोऽपि कुतूहलेन।**
> **तस्मिन्नपीह समसौख्यमयीं हिमानीम्,**
> **अध्यासते यतिवरा समता-प्रसादात्** ॥24॥

टीका—(ज्वालायमान) दळि्ळसि बेवुत्तमिर्द(मदनानल)कामाग्निय (पुज) समूहद (मध्ये) नडुवे (विश्वम्) समस्तलोकम (कोऽपि)आवनोर्व मोहवैरी (कुतूहलेन) विनोददि (कथ क्वथति) एन्तु वेगुमन्ते मरळिसुगु (तस्मिन्नपि) अनप्पुदयागत दह्यमान-मदनानिळपुजमध्यदोळ (इह) ई कलि-कलित-लोकदोळु (समसौख्यमयीम्) समभावना-समुद्भूतसुखमयमप्प (हिमानीम्) गगेय (समताप्रसादात्) समताभावना-प्रसाददत्तणि(यतिवरा) मिक्क तपोधनरु (अध्यासते) ओळ्पुवकु तण्ण-निप्परु ।

भावार्थ—वीतराग-निर्विकल्पसमाधिनामधेय-समभावना-गगन-गगाजलदिनल्लदे मोहप्रभजनप्रज्वलितमन्यथाऽग्निनन्ददेबुदु सूत्रार्थम् ।

उत्थानिका—कामाग्नि से जलने वाले इस विश्व के बीच मे समता-रूपी अमृतमत्र के बल से मुनिगण शीतलता का अनुभव करते रहेगे यह प्रतिपादित करते है—

खण्डान्वय—ज्वालायमानमदनानलपुजमध्ये—जलती हुई काम-वासना रूपी अग्नि के समूह के बीच मे, विश्वम्=इस विश्व को, कोऽपि=कोई (भयकर मोहशत्रु), कुतूहलेन=कुतूहलपूर्वक/विनोद मे, कथम्=किस प्रकार, क्वथति=उबाल रहा है। तस्मिन्=उसमे, अपि=भी, इह=यहाँ पर, समसौख्यमयीम्=समता व सौख्य से युक्त, हिमानीम्=गगा मे, ते यतिवरा=वे मुनिगण, समताप्रसादात्=समता भावना की कृपा से ही, अध्यासते=विराजमान रहते है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जलकर भुनते हुए कामरूपी अग्नि के समूह के बीच सम्पूर्ण लोक को यह मोह नामक बैरी विनोदपूर्वक किस

प्रकार उबाल रहा है ! ऐसी पूर्वोक्त उदयागत जलती हुई कामाग्नि के पुज के बीच मे इस कलिकलित लोक में (भी) समता-भावना से समुद्भूत सुखमयी गगा में (अवगाहन कर) समता-भावना की कृपा से सभी तपस्वीगण शीतलता मे रहते हैं।

भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पसमाधि नामक समभावना रूपी आकाशगंगा के जल के सिवाय मोहरूपी प्रभजन से प्रज्वलित अग्नि कभी नही बुझ सकेगी—ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्य ने मोह व काम के हाथो होनेवाली विश्व की दुर्दशा का निरूपण करते हुए, उस दुरवस्था से बचने का एकमात्र साधन 'समता' का अवलम्बन बतलाया है।

जिस प्रकार काढे को अग्नि पर बार-बार उबालते है, आचार्य कहते हैं कि मोहग्रस्त जीव भी कामाग्नि से सन्तप्त हो मानो निरन्तर उबल रहे हैं और जन्म-मरण आदि दु खों को भोग रहे है। जब समस्त ससार की ऐसी दुर्दशा है, सर्वत्र दारुण दाहकता व्याप्त है, तो बचने का उपाय क्या हो सकता है ? इसका समाधान यहाँ दिया गया है कि निजशुद्धात्मतत्त्व की आराधना/तल्लीनता रूपी, समता भावना रूपी गगा मे जो गहरे पैठ गये हैं, ऐसे ज्ञानी मुनिवर इस दारुण-दाहकता से सुरक्षित रहकर शात व शीतल निजानन्द के रस का पान करते रहते हैं। उनके ऊपर मोह का जादू नही चलता है, और न ही कामाग्नि की लपटे उन्हे छू पाती हैं। अत समता की शरण में जाने की प्रेरणा यहाँ दी गयी है। कविवर प० दौलतराम ने भी लिखा है—"यह राग आग दहै सदा, तातै समामृत सेइये" (छहढाला 6/15)।

उत्थानिका—समतागना सखिगळं पेळ्दपरु—

> **मैत्री - कृपा - प्रमुदिता - शुभगांगनानाम्,**
> **शुभ्राभ्रसन्निभमन सदने निवासम् ।**
> **त्वं देहि ता हि समताभिमता सखीत्वात्,**
> **एवं न कोऽपि भुवनेऽपि तवास्ति शत्रु ॥25॥**

टीका— (मैत्री) सकलसत्त्वशान्तिहेतुभूतचिन्तनात्मकमैत्रियु (कृपा) दीनानुग्रहभावरूपकृपेयु (प्रमुदिता) परमगुणानुरागरूपप्रमुदितेयुमेब (शुभगागनानाम्) शुभगेयरप्प वनितेयर्गे (शुभ्राभ्रसन्निभमन - सदने) सदमलजलधरसदृश निजमनोगेहदोळु (निवासम्) इरलेडेय (त्वम्) नीम (देहि) कुडु, वनितेयर पुरुडुगित्तियरेनवेड (ता) मैत्री-कृपा-प्रमुदितेयरेम्बाकेगळु (सखीत्वात्) केळदितनद तन्मेयत्तणि (समताभिमता) समतागनेगे समतमप्परु (एवम्) इन्तागुत्तमिरे (भुवने) समस्तलोकदोळ (अपि) मत्ते (तव) निनगे (कोऽपि) आवनु (शत्रु) पगे (नास्ति) इल्ल ।

भावार्थ—समतेयुळ्ळंगे पगे इल्लेबुदु भावार्थम् ।

उत्थानिका—समता रूपी सुन्दरी की सखियों का वर्णन करते है—

खण्डान्वय—मैत्री-कृपा-प्रमुदिता-शुभगागनानाम् = मित्रता, कृपा व प्रमोदभावना रूपी सुन्दर स्त्रियों को, शुभ्राभ्रसन्निभमन सदने = धवल आकाश के समान मन रूपी भवन मे, निवासम् = निवास, देहि = प्रदान करो, ता = उन्हे, समता = समताभावना, सखीत्वात् = सखी रूप मे, अभिमता = अभीष्ट है । एवम् = ऐसा करने पर, तव = तुम्हारा, भुवनेऽपि = तीनों लोकों में, कोऽपि = कोई भी, शत्रु = दुश्मन, न अस्ति = नहीं होगा ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—सम्पूर्ण प्राणियो के लिए शातिकारक चिन्तन वाली मैत्री, दीनो पर अनुग्रह-भावरूप कृपा, श्रेष्ठ गुणो मे अनुरागरूप प्रमोदभावरूपी सौभाग्यशालिनी स्त्रियो के लिए श्रेष्ठ निर्मल बादल (शरद् ऋतु के मेघ) के समान अपने मनरूपी मकान मे रहनेयोग्य स्थान तुम दो, ऐसी स्त्रियो को मामूली नौकरानी मत

समझो। वे मैत्री-कृपा-प्रमुदिता रूपी स्त्रियाँ वस्तुत अभिन्न सख्यभाव होने से (सखी के रूप में) समतारूपी सुन्दरी के लिए स्वीकृत है। ऐसा करने पर समस्त लोक मे भी तुम्हारे लिए कोई भी शत्रु नही(रहेगा)।

भावार्थ—समतावान् व्यक्ति के लिए (विश्व मे कोई भी) शत्रु नही होता है—यह भावार्थ है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्यदेव ने 'समता' की सखीभूत सहयोगी भावनाओ की उपयोगिता का निरूपण किया है।

जैन साधक की यह भावना रहती है कि हे प्रभु! समस्त प्राणियो के प्रति मेरी मैत्री भावना हो, गुणीजनो के प्रति मेरे मन मे प्रमोदभाव जागृत हो, दु खी जीवो के प्रति मेरा हृदय करुणा से ओत-प्रोत रहे तथा विपरीत वृत्तिवाले लोगो के प्रति मेरी 'मध्यस्थ' की भावना रहे ("सत्त्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोद, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्। मध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥"—आ० अमितगतिकृत सामायिक पाठ)। इन्हे ही मैत्रीभावना, प्रमुदिता भावना, करुणा भावना तथा माध्यस्थ्य भावना के नामो से जैनशास्त्रों में निरूपित किया गया है। (द्र ज्ञानार्णव 25/4-20, हेम० **योगशास्त्र** 4 117-121)। इनमे माध्यस्थ्य भावना 'समता' का ही बाह्य-रूप है, अत शेष तीनो को उसकी सखियो के रूप मे यहाँ निर्देशित किया गया है।

शास्त्रो मे इन भावनाओ को धर्म की साधिका, रागादि का नाश करने वाली, मोहनिद्रा नष्ट कर योगनिद्रा (समाधि) को प्राप्त कराने वाली तथा आनन्द-सुधा की वर्षा करनेवाली चन्द्रिका, मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाली दीप-माला कहा गया है। (द्र ज्ञाना० 25/4, 15-20, हेम० योगशास्त्र-4/122, राजवार्तिक 7/11/8)।

चूकि 'समता' की ही आराधना करने पर ये भावनाये समता की सखी होने से स्वत प्रकट हो जाती है, तथा इन भावनाओ के धारी व्यक्ति का जगत् मे कोई शत्रु हो ही नही सकता है।

उत्थानिका—निश्चय-व्यवहार-परमात्माराधना-विधाननिरूपणार्थ-मुत्तरवृत्तावतारम्—

> **सत्साम्यभाव-गिरिगह्वर-मध्यमेत्य,**
> **पद्मासनादिकमदोषमिदं च बद्ध्वा ।**
> **आत्मानमात्मनि सखे ! परमात्मरूपम्,**
> **त्वं ध्याय, वेत्सि ननु येन सुखं समाधे ॥26॥**

टीका—(ननु रे सखे !) एले नन्टने ! (त्वम्) नीम (समाधे) परम-समाधिसम्बन्धियप्प (सुखम्) अनन्तसुखबीजभूतपरमाह्लादमं (येन) आवुदोन्दु कारणदि (वेत्सि) वयसुवपक्ष । (सत्साम्यभाव) परम-स्वास्थ्यमेब (गिरिगह्वर) अचलनिकुजद (मध्यम्) नडुवणिगे (एत्य) संदु (अदोषम्) चलनादिदोषरहितमु (इदं च) प्रत्यक्षमुमप्प (पद्मास-नादिकम) अरुवत्तनात्कासनदोळ् पद्मासनादीप्सितासनम (बद्ध्वा) कट्टिट (आत्मनि) निज-निरंजन-परमात्मनोळु (परमात्मरूपम्) जिन-सिद्धसदृशपरमात्मरूपमप्प (आत्मानम्) निजात्मान (ध्याय) ध्यानिसु ।

भावार्थ—गिरिकुजदोळु पद्मासनादि निबद्धनागि परमात्मन नेनेवुदेबुदुपचार, निश्चयदि निरजनपरमात्मस्वरूपदोळविचलमागि निल्वुदे सहजसुखकारणमेंबुद सूत्रतात्पर्यम् ।

उत्थानिका—निश्चयपरमात्माराधना और व्यवहारपरमात्मा-राधना के विधानो का निरूपण प्रस्तुत करने के लिए यह छन्द है—

खण्डान्वय—सत्साम्यभावगिरिगह्वरमध्यम्=प्रशस्त समता भावनारूपी पर्वत-कन्दरा के बीच मे, एत्य=जाकर, च=और, इदम्=ये, अदोषम्=निर्दोष, पद्मासनादिकम्=पद्मासन आदि, बद्ध्वा=बाँधकर, सखे !=हे मित्र !, त्वम्=तुम, परमात्मरूपम् आत्मानम्=परमात्मरूप निजात्मा का, आत्मनि=अपने में, ध्याय=ध्यान करो, येन=जिससे, समाधे=समाधि के, सुखम्=सुख को, वेत्सि=जान सको/अनुभव कर सको ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—हे आत्मीयजन ! तुम परमसमाधि सम्बन्धी अनन्त सुख के बीजभूत परम आह्लाद को जिस कारण से

(अर्थात् यदि) जानना चाहते हो तो परमस्वास्थ्यभावरूपी पर्वत की गुफा के बीच में जाकर चलन आदि दोषो से रहित इस प्रत्यक्ष रूप चौंसठ आसनो मे से पद्मासन आदि किसी इच्छित आसन को बाँधकर निजनिरजन परमात्मा में सिद्धपरमात्मा के समान परमात्मस्वरूपी निजात्मतत्त्व का ध्यान करो।

भावार्थ—गिरिकुज मे पद्मासनादि बाँधकर परमात्मा का चितवन करना व्यवहार (परमात्माराधना) है (तथा) निश्चय से निरजन परमात्मस्वरूप मे अविचल होकर रहना ही सहज सुख का कारण है—ऐसा सूत्र का तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे योगीन्दुदेव ने ध्यान के योग्य क्षेत्र और आसन के साथ-साथ ध्येय, ध्यान-विधि एव ध्यान के फल का सकेत दिया है तथा साधक को परामर्श दिया है कि हे मित्र ! तुम प्रशस्त समता रूपी गिरि-कन्दरा मे प्रविष्ट होकर निर्दोष रीति से पद्मासन आदि (मे से कोई एक) बाँधकर, निज से निज को परमात्मरूप ध्याओ, ताकि तुम समाधि के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन कर सको।

ध्यानसिद्धि का प्रमुख कारण आतरिक भाव-विशुद्धि व उपयोग की स्थिरता है, इसी को ध्यान मे रखकर बाह्य पर्वत-शिखर, गुफा, कदरा आदि पर जोर न देकर समतावान् मन का ही ध्यान-योग्य गिरिगुफा बताया है। क्योकि ध्याता के लिए वास्तव मे 'साम्यभाव' ही वास्तविक शरण-स्थली है (द्र पद्मनन्दि पचविंशति, 4/69)।

आसन की उपयोगिता यही है कि शरीर से ध्यान हटा लेने पर शरीर स्खलन या पतन को प्राप्त न हो, और ध्याता निर्विघ्नरूप से ध्यान-सिद्धि कर सके। शास्त्रो मे नौ प्रकार के आसन ध्यान-योग्य गिनाये हैं—1. पर्यंकासन, 2 वज्रासन, 3 वीरासन, 4. सुखासन, 5. पद्मासन, 6 दण्डासन, 7. उत्कटिकासन, 8. गोदोहिकासन और 9. कायोत्सर्गासन। शास्त्रकारों के अनुसार इनमें से कोई भी आसन या अन्य कोई भी शारीरिक स्थिति, जो उपयोग की स्थिरता मे साधक हो, ग्राह्य मानी गयी है (द्र. ज्ञानार्णव 26/11, हेम० योग० 4/134)।

ध्यान की स्थिति का वर्णन यहाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आत्मा ही ध्याता है, आत्मा ही ध्येय है तथा वही ध्यानरूप परिणत हो स्वय को परमात्मरूप अनुभवता है। 'समयसार' आदि ग्रन्थों में भी ऐसी ही अभिन्न षट्कारक की प्रक्रिया बतलायी गयी है।

उत्थानिका—आत्माराधनाभ्यास-निमित्त-निरूपणार्थमुत्तरवृत्ता-वतारम्—

आराध्य धीर! चरणौ सतत गुरूणाम्,
लब्ध्वा तत दशम - मार्गवरोपदेशम्।
तस्मिन् विधेहि मनस स्थिरता प्रयत्नात्,
शोषं प्रयाति तव येन भवापगेयम् ।।27।।

टीका—(धीर !) परिषहोपसर्गविजये ! (सततम्) निरन्तर (गुरुणा चरणौ) वञ्चनारहित-गुरुगळ पद-पयोजगळ (आराध्य) भक्ति-प्रकर्षदिनाराधिसि। (तत) आनाधनानन्तर (दशममार्गवरोपदेशम्) बानाग्राष्टमभागप्रमाण-त्राळुरन्ध्रप्रदेशाख्य-दशममार्गवरोपदेशम (लब्ध्वा) पडेदु, (तस्मिन्) आ ब्रह्मरन्ध्रदोळ् (प्रयत्नात्) मिक्कयत्ने यत्तणि (मनस स्थिरताम्) मनदविचलतेय (विधेहि) माडु। (येन) सषुम्ना-नाडिगतमनोनिरोधदि (तव) निन्न (इय भवापगा) ई द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भवाभिधान-भवतरगिणी (शोष प्रयाति) निरवशेष-शोषमनेय्दुगु।

भावार्थ—दशमद्वाराभिधानार्हदाराधने निजपरमात्माराधना-बाह्यसाधनमप्पुदरि परम्परामोक्षहेतुववकुमेदु सूत्रार्थम्।

उत्थानिका—आत्माराधना के अभ्यास के लिए यह निमित्त निरूपक छन्द है—

खण्डान्वय—धीर != हे धीरपुरुष ! गुरुणाम्=गुरुजनो के, चरणौ=चरणो की, सततम्=निरन्तर, आराध्य=आराधना करके, तत =उन गुरुओ से, दशममार्गवरोपदेशम्=दसवे मार्ग का श्रेष्ठ उपदेश, लब्ध्वा= प्राप्त करके, तस्मिन्=उस (दशममार्ग) मे, प्रयत्नाद्=प्रयत्नपूर्वक, मनस स्थिरताम्= मन की स्थिरता,विधेहि =करो, येन=जिसके द्वारा, तव= तुम्हारी, इयम्= यह, भवापगा =संसाररूपी नदी, शोष प्रयाति=सूख जाए/समाप्त हो जाये।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—परिषहो और उपसर्गों को जीतने वाले (हे धीर पुरुष!) निरन्तर, वञ्चना रहित गुरुओ के चरणकमलो की

भक्ति के प्रकर्ष से आराधना करो। आराधना के बाद मे बालाग्र के आठवे भागप्रमाण ताळुरन्ध्रप्रदेश नामक दसवे मार्ग का श्रेष्ठ उपदेश प्राप्त करके उस ब्रह्मरन्ध्र मे अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक मन को अविचल करो, जिससे सुषुम्ना-नाडिगत मनोनिरोध से तुम्हारी यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव नामक ससार रूपी तरगिणी (नदी) सम्पूर्णत शोष को प्राप्त करेगी(अर्थात् सूख जायेगी)।

भावार्थ—दशमद्वार नामक अर्हदाराधना, निजात्माराधना की बाह्यसाधन रूप से परम्परा से मोक्ष की हेतु होती है—यह सूत्रार्थ है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्यदेव ने निजात्माराधना की बाह्यसाधनभूत योगसाधना का अवलम्बन लेने की प्रेरणा दी गई है, किंतु उसे साक्षात् मोक्ष-कारण नही माना है, बल्कि परम्परा से मोक्ष हेतु स्वीकार किया है। वे कहते है कि हे धीर पुरुष ! तुम ज्ञानी गुरु के चरणो की निरन्तर आराधना करके उनसे दशममार्ग की प्राप्ति का उपदेश प्राप्त करो, तथा तदनन्तर वहाँ उपयोग को एकाग्र करने का यत्न करो, ताकि तुम्हारी भवापगा (ससाररूपी नदी) सूख जाये।

यहाँ ध्याता के लिए 'धीर' सम्बोधन सोद्देश्य है (ज्ञाना.25/3) और धैर्य को योगसिद्धि के प्रमुख कारणो मे परिगणित किया गया है (ज्ञाना.20/1)। सम्पूर्ण भारतीय सस्कृति में धीर शब्द विरक्त, आत्मद्रष्टा योगी के अर्थ मे परिगृहीत है।

'गुरुचरणो की आराधना' का आदेश भी अतीव महत्त्वपूर्ण है, क्यो कि योगसाधना सद्गुरु की शरण मे जाये बिना हो ही नही सकती है। जैनाचार्यो ने आत्मसाधन-हेतु ज्ञानी गुरु की उपयोगिता की वस्तुत अनिवार्यता का अनेकश. उल्लेख किया है। पद्मनन्दि के अनुसार "गुरु के प्रसाद से ही ज्ञान-चक्षु की प्राप्ति होती है, जिसके सहारे समस्त जगत् हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष होता है। गुरु के उपदेश, (उनके अनुसार) अभ्यास व वैराग्य से आत्मतत्व को प्राप्त करके योगी कृतकृत्य हो हो जाता है।(द्र पद्मनदि पचविशतिका 4/22, 6/18-20)

उत्थानिका—निश्चय-व्यवहाराहंत-बीजाराधनाफल-निरूपणार्थ-मुत्तरवृत्तावतारम्—

नित्यं निरामयमनन्तमनादि-मध्यम्,
अर्हन्तमूर्जितमज स्मरतो हृदीशम् ।
नाश न याति यदि जाति-जरादिक ते,
तर्हि श्रम कथमय न मुधा मुनीनाम् ॥28॥

टीका—(नित्यम्) द्रव्यार्थिकनयदि नित्यनु (निरामयम्) निखिलव्याधिरहितनु (अनतमनादिमध्यम्) आदि-मध्य-अन्तरहितनु (ऊर्जिनम्) प्रकाशरूपनु (अजम्) उत्पत्ति-विरहितनु (ईशम्) परमैश्वर्यपितनुमप्प (अर्हन्तम्) अर्हद्भट्टारकनुम शुद्धस्फटिक-मयशशिकलाऽऽकारमुमनर्हदभिधानमुमं मेणु (हृदि) मनदोळ् (स्मरनो) नेनेवुद रत्तणि (ते) निन्न बळिसन्त (जातिजरादिकम्) जाति-मृत्यु-जरादि दोषनिचय (नाश न याति) केडिगे सल्लदक्कुमप्पडे (यदि) एल्लियानु, (तर्हि) अन्तादोडे (मुनीनाम्) तपोधनर् (श्रम) करण-काम-मनोनिरोधजनितश्रम (कथ न मुधा) एन्तु वृथयल्तु ? वृथयक्कुमेबुदर्थम् ।

भावार्थ—वाच्य-वाचक भेददि ध्येयमित्तेरनक्कुमेंबुदु सूत्रार्थ-मभिप्रायम् ।

उत्थानिका—निश्चय और व्यवहार से अर्हन्त की बीजाराधना का फल बतलाने के लिए प्रस्तुत छन्द है--

खण्डान्वय—नित्यम् = नित्य, निरामयम् = व्याधिरहित, अनन्तम् = अनन्त, अनादिमध्यम् = आदि और मध्यरहित, ऊर्जितम् = ऊर्जस्वित, अजम् = अजन्मा, ईशम् = स्वामी, अर्हन्तम् = अर्हन्त परमात्मा को, हृदि = मन मे, स्मरत ते = स्मरण करते हुए तुम्हारे, यदि = यदि, जाति-जरादिकम् = जन्म-वृद्धावस्था आदि, नाश न याति = नष्ट नही होते है, तर्हि = तो, मुनीनाम् = मुनिगणो का, अयं श्रम = यह श्रम, कथ न मुधा = क्यो व्यर्थ नही होगा ? अर्थात् अवश्य व्यर्थ होगा ।

हिन्दी अनुवाद(टीका)—द्रव्यार्थिक नय से जो नित्य है, सम्पूर्ण व्याधियो से रहित है, आदि, मध्य और अन्त से भी रहित है, प्रकाशरूप

है, उत्पत्ति-विरहित है, परम ऐश्वर्य से युक्त है, (तथा)अर्हद् भट्टारक रूप अथवा शुद्ध स्फटिक मणिमय चन्द्रकला के आकार रूप अर्हद् नाम मय है, उसका मन में स्मरण करने से तुम्हारे जन्म-मृत्यु बुढापा आदि दोषों का समूह नाश को प्राप्त नही होता है—यदि ऐसा हो जाये तो तपोधनो का इन्द्रिय, काम तथा मन के निरोध मे होने वाला श्रम क्या व्यर्थ नही होगा ?(अर्थात्) व्यर्थ ही होगा—यह अर्थ है।

भावार्थ—वाच्य-वाचक के भेद से ध्येय दो प्रकार के होते हैं—यह सूत्रार्थ-अभिप्राय है।

टिप्पणी—ध्यान-साधना के अन्तर्गत 'ध्येय' तत्त्व के रूप में सकल परमात्मा 'अर्हन्त देव' के ध्यान का परामर्श योगीन्दुदेव यहाँ दे रहे है।

वस्तुत: तो निज शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरता व निर्विकल्प अनुभूति ही ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था है।(द्र.द्रव्यसग्रह 56 व टीका, कार्तिकेयानुपेक्षा 482, तत्त्वानुशासन-141, तिलोयपण्णत्ति 9/40)। किन्तु इस अवस्था की जब तक प्राप्ति न हो, तब तक सालम्बन ध्यान की प्रेरणा के रूप में अर्हन्त परमात्मा का ध्यान करने का परामर्श दिया गया है।

परमात्म-ध्यान में पहले सकल परमात्मा(अर्हन्तदेव) का ध्यान किया जाता है, उसमे स्थिरता प्राप्त होने पर नि:कल परमात्मा (सिद्ध भगवान्) का ध्यान होता है। (द्र ज्ञानार्णव 28/17-36, 29/8-10, 36/1-37 तथा तत्त्वानुशासन 119-122)। परमात्मा के गुणो का पृथक्-पृथक् विचार करते-करते, अन्त में गुण-गुणी-अभेद भावना के साथ परमात्ममयता प्राप्त होती है (द्र० ज्ञानार्णव 37/18-19)—यह यह साधनाक्रम है।

वीतराग अर्हन्तदेव का ध्यान, साधक की मनोदशा के अनुरूप स्वर्ग-अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति कराता है(तत्त्वानुशासन-129)।ध्यान के अभ्यास से ध्येय के साथ तन्मयता प्राप्त होती है, अत ध्याता भाव अर्हत् हो जाता है(तत्त्वानुशासन;190-199, समाधिशतक 97-98)।

ध्यान-साधक का उद्देश्य सासारिक कष्टों की निवृत्तिपूर्वक अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख की प्राप्ति होता है, अत: यदि इसकी प्राप्ति न हो, तब ज्ञानियों द्वारा निर्दिष्ट ध्यान-प्रक्रिया ही निष्फल हो जायेगी अत. यहाँ यह सुनिश्चित आश्वासन दिया कि हे साधक ! तुम निश्चिन्त होकर साधना करो, तुम्हे अवश्य फलसिद्धि होगी।

उत्थानिका—अजपा-निरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

क्षीराम्बुराशिसदृशांशु यदीयरूपम्,
आराध्य सिद्धिमुपयान्ति तपोधनास्त्वम् ।
हहो ! स्वहसहरिविष्टर-सन्निविष्टम्,
अर्हन्तमक्षरमिमं स्मर कर्ममुक्त्यै ॥29॥

टीका—(क्षीराबुराशि) पाल्गडल (सदृशम्) समानमप्प (अशु) किरणमनुल्ल (यदीय) आवनोर्व परमात्मन (रूपम्) निर्मलस्वरूपम (आराध्य) आराधिसि (तपोधना) तपस्विगळु (सिद्धिम्) मोक्षम (उपयान्ति) पोर्दुवरु। (हहो !) रे प्रभाकर भट्ट ! (त्वम्) नीनु (स्वहस-हरि-विष्टर-सन्निविष्टम्) नाड्यक्षरपूर्णद्वादशदलमध्यगत-स्वहसमेब सिहविष्टरद मेगेनिद (अर्हन्तम्) अर्हदभिधानमप्प अक्षरम (कर्ममुक्त्यै) दुःखकर्मनिर्मुक्तिकारणमागि (स्मर) नेने।

भावार्थ—इदनिक्कुव स्वहसहरिविष्टर-स्थिताक्षर-निजपर-मात्मार्हदभिधानाजपाराधना निमित्तमप्पुदरि परपरामोक्षहेतुवक्कुमे-बुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—अजपा (जाप) का निरूपण करने के लिए—प्रस्तुत छन्द का अवतरण है—

खण्डान्वय—क्षीराम्बुराशिसदृशांशु=क्षीरसागर के समान प्रभावान्, यदीयरूपम्=जिसके रूप को, आराध्य=आराधना करके, तपोधना=मुनिगण, सिद्धिम्=सिद्ध पद को, उपयान्ति=प्राप्त करते है, हहो !=अरे शिष्य ! त्वम्=तुम (भी), स्वहस-हरिविष्टरसन्नि-विष्टम्=निज शुद्धात्मारूपी सिहासन पर बैठकर, इमम् अर्हन्तमक्षरम् =इस अर्हन्तरूपी अक्षर का, कर्ममुक्त्यै=कर्मों से मुक्त होने के लिए, स्मर=स्मरण करो।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—क्षीरसागर के समान किरण (आभा) वाले ऐसे परमात्मा के निर्मलस्वरूप की आराधना करके तपस्विगण मोक्ष को प्राप्त करते है। हे प्रभाकर भट्ट ! तुम (भी) बीजाक्षरो से परिपूर्ण बारह दलो के बीच में निजशुद्धात्मारूपी सिंहासन पर बैठकर दुःखो और कर्मों की निर्मुक्ति के निमित्त 'अर्हद्' नामवाले अक्षर का

स्मरण करो।

भावार्थ—वस्तुत इस निजशुद्धात्मारूपी सिहासन पर स्थित अक्षय निजपरमात्मा 'अर्हद्' नाम की अजपा—आराधना के कारणरूप होने से परम्परा मोक्ष का कारण होता है—यह तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में योगीन्दुदेव 'पदस्थ ध्यान' की भूमिका प्रस्तुत कर रहे है। आगम-ग्रन्थो मे धर्मध्यान के चार भेद गिनाये है—(1) पिण्डस्थ, (2) पदस्थ, (3) रूपस्थ और (4) रूपातीत। इनमें प्रथम तीन भेद स्थूल विषय वाले व 'सालम्बन' कहे गये हैं तथा अतिम 'रूपातीत' ध्यान मे अमूर्त गुणसमूह का ध्यान किया जाता है, जो कि निर्विकल्प समाधि या शुक्ल ध्यान का मार्ग प्रशस्त करता है (द्र० ज्ञानार्णव, 34/1, 37/1-10)।

'पदस्थ' धर्मध्यान मे विविध पवित्र पदो/वर्णों/मत्रो का ध्यान किया जाता है, जिसके फलस्वरूप अनेको सिद्धियाँ व ज्ञानातिशय प्रकट होते है (द्र० ज्ञानार्णव, 35/1-113)। तत्त्वानुशासन में प्रकारान्तर से ध्यान के चार ध्येय प्रस्तुत किये है—नामध्येय, स्थापना-ध्येय, द्रव्यध्येय और भावध्येय। इनमें 'नामध्येय' मे अर्हन्त आदि के वाचक मत्रो व वर्णों को ध्येय बनाया जाता है। यह 'पदस्थ' धर्मध्यान का पर्यायान्तर ही प्रतीत होता है (द्र० तत्त्वानुशासन, 99-108)।

मोक्षमार्ग की साधना में भगवान् के नाम रूपी महामन्त्र का साहचर्य उपयोगी माना गया है (द्र० पद्म० पच०, 9/1), अत यहाँ 'अर्ह' पद का स्मरण उपयुक्त है।

यहाँ टीकाकार ने उक्त अर्थ से कुछ ऊपर उठकर व्याख्या प्रस्तुत की है। वे ध्यान का आधार-स्थल भी निजशुद्धात्मतत्त्व को ही मान रहे है तथा ध्येय अर्हत् परमात्मा की अवधारणा भी निजस्वरूप में ही कर रहे है, जो कि वस्तुत कर्म-मुक्ति का साधन है।

योगशास्त्रीय विवेचन मे अजपा-आराधना का स्वरूप श्वासोच्छ्वास क्रिया के साथ सहज मत्र-आवृत्ति के रूप मे स्वीकार किया है। वहाँ जप के अजपा जप आदि बारह भेद गिनाये गये हैं।

उत्थानिका—सकल-निष्कल, वाच्य-वाचक-निरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

> **य निष्कल सकलमक्षयकेवल वा,**
> **सन्त स्तुवन्ति सतत समभावभाज ।**
> **वाच्यस्य तस्य वरवाचक-मंत्रयुक्त,**
> **हे पान्थ ! शाश्वतपुरीं विश निर्विशंक ·॥30॥**

टीका—(समभावभाज) सुख-दु ख-जीवित-मरणादि समभाव भाजनरप्प(सन्त)सत्पुरुषरु (सततम्) निरन्तर (निष्कलम्)कलातीतमु (सकलम्) कलासमन्वितमु (अक्षय) नित्यमु (केवल वा) असहायमु मेणप्प (यम्) आवुदोदात्मतत्त्वम (स्तुवन्ति) स्तुतियिपुवरु । (वाच्यस्य तस्य) वाच्यमप्पुदरवरमिक्क (वाचकमत्रयुक्त) वाचकमप्प मत्रदोळकुडि (हे पान्थ !) रे मोक्षपुरी-पथ-पथिक ! (निर्विशक) शकारहितनागि (शाश्वतपुरीम्) मोक्षपुरम (विश) पुगु ।

भावार्थ—अर्हद् वाच्य-वाचक सकळ, सिद्ध वाच्य-वाचक निष्कलमेबुऽभिप्रायम् ।

उत्थानिका—सकल और निष्कल के वाच्य-वाचको का निरूपण करने वाला प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय—समभावभाज =साम्यभाव को धारण करने वाले, सन्त =सन्त पुरुष, नि कलम्=अशरीरी, सकलम्=सशरीरी, अक्षयम्=अविनाशी, केवलम् वा=और परिपूर्ण, यम्=जिस (आत्मतत्त्व की), सततम्=निरन्तर, स्तुवन्ति=स्तुति करते है, तस्य वाच्यस्य=उस वाच्य पद के, वरवाचकमत्रयुक्त =श्रेष्ठ वाचकमत्र से युक्त होकर, हे पान्थ !=हे (मुक्तिमार्ग के) पथिक ! शाश्वतपुरीम्=अविनाशी मोक्षनगरी मे, निर्विशक =शकारहित होकर, विश=प्रवेश करो ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—सुख-दु ख, जीवन-मरण आदि में समभाव भाजन हैं, जो ऐसे सत्पुरुष निरन्तर कलातीत और कला-समन्वित, नित्य और असहाय जिस आत्मतत्त्व की स्तुति करते हैं, वाच्यरूप उस श्रेष्ठ तत्त्व के उत्तम वाचकमत्र से युक्त होकर, हे मोक्षपुरी के पथ के

पथिक ! शंकारहित होकर मोक्षपुरी में प्रवेश करो।

भावार्थ—अर्हन्तरूपी वाच्य का वाचक सकल है तथा सिद्धरूपी वाच्य का वाचक निष्कल है—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में आचार्यदेव ने पुन: 'अर्हं' मन्त्र की उपादेयता का स्मरण दिलाया है। आचार्य शुभचन्द्र ने भी 'अर्हं' मन्त्र को समस्त मन्त्र पदो का स्वामी व श्रेष्ठ मत्रराज बतलाया है (द्र० ज्ञानार्णव, 35/7-8)

यहाँ सकल तथा निष्कल से सामान्य वाच्यार्थ तो अर्हन्त और सिद्ध परमात्मा हैं, किन्तु टीकाकार ने केवल पद का अर्थ 'असहाय' करते हुए सकल, निष्कल व केवल तीनो पदो को आत्मतत्त्व का वाचक बतलाया है। वे कहते हैं कि समताभावी सत्पुरुष जिस 'सकल', 'निष्कल', अक्षय-अविनाशी व केवल (अद्वितीय) स्वरूप वाले परमात्म तत्त्व का नित्य स्तवन करते है, उसी वाच्य परमात्मपद के वाचक श्रेष्ठ मत्र से युक्त होकर, हे मुक्तिपुरी के पथिक ! शाश्वतपुरी (मोक्ष-नगरी) मे नि शक होकर प्रविष्ट हो जाओ।

वस्तुत योगशास्त्रीय विवेचन व अध्यात्मशास्त्रीय विवेचन मे शाब्दिक वैविध्य तो पर्याप्त है, परन्तु उद्देश्यगत या साध्यवस्तुगत भेद उनमे कही नही है। दोनो मे अभिप्राय निजशुद्धात्मतत्त्व की निश्चल अनुभूति को प्राप्त कराने का ही होता है। किन्ही लोगो ने योगशास्त्रीय वर्णनो के फल कदाचित् अन्य भी प्रतिपादित किये हो, परन्तु उत्कृष्ट अध्यात्मवेत्ता आचार्य योगीन्दुदेव एवं उनके टीकाकार के विचारों में उन भौतिक लक्ष्यो का कोई स्थान नही है। समस्त योगपरक विवेचन की आध्यात्मिक व्याख्या यहाँ अपने उत्कृष्ट रूप को प्राप्त है। अत: योग-शास्त्रीय शब्दो के माध्यम से शाश्वत आध्यात्मिक मार्ग की ही पुष्टि की गयी है।

उनके अनुसार, जैसे गारुडी मत्र सिद्ध करके साधक भयंकर विषधरो से भरे क्षेत्र में नि:शक होकर प्रवेश कर जाता है, उसे जरा भी भय या आशंका उन विषधरों के प्रति नही होती, इसी प्रकार निज शुद्धात्मतत्त्व के साधक मंत्र को सिद्ध करने वाला साधक नि.शक होकर मुक्तिपुरी मे प्रविष्ट हो जाता है, उसे कर्मों का जरा भी भय नही होता।

उत्थानिका— तदाराधनाफल-निरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

यन्न्यासत स्फुरति कोऽपि हृदि प्रकाश,
वाग्देवता च वदने पदमादधाति।
लब्ध्वा तदक्षरवरं गुरुसेवया त्वम्,
मा मा कृथा कथमपीह विराममस्मात् ॥31॥

टीका—(यत्) आवुदोन्दु सकल-निष्कलाक्षरम (न्यासत) निरिसुहृदरत्तणि (हृदि) मनोदोळ् (कोऽपि) आवुदोंदु (प्रकाश) मिक्कवेळगु (स्फुरति) पोरपोणमुगु, (वाग्देवता च) वाग्देवतेयु मत्ते (वदने) मुखकमलदोळ् (पदम्) स्थानम (आदधाति) ताळ्दुगु। (गुरुसेवया) परमगुरूपास्तियि (तदक्षरवरम्) तत्सकल-निष्कलाक्षरवरोपदेशम (लब्ध्वा) पडेदु, (त्वम्) नीम (अस्मात्) ई परमोपदेशदत्तणि (कथमपि) एन्तप्पड (इह) ई लोकदोळ् (विरामम्) अगल्केय (मा मा कृथा) मत्ते निषदे माडवेड।

भावार्थ—अरिदुपदेशम मरेयलागदेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका--उस (पूर्वोक्त अजपा) आराधना के फल का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय—हृदि=हृदय मे, यन्न्यासत =जिसको स्थापित करने से, कोऽपि=कोई महनीय, प्रकाश=प्रकाश, स्फुरति=स्फुरित होता है, च=और, वदने=मुख मे, वाग्देवता=सरस्वती, पदम् आदधाति= प्रविष्ट हो जाती है/घर कर लेती है। त्वम्=तुम, गुरुसेवया=गुरु की सेवा द्वारा, तदक्षरवरम्=उस श्रेष्ठ अक्षर को, लब्ध्वा=प्राप्त करके, कथमपि=किसी तरह भी इह=यहाँ, अस्मात्=इससे, विरामम्= विराम, मा मा कृथा =मत करो, मत करो।

हिन्दी अनुवाद (टीका) --जिस सकल-निष्कल अक्षर की स्थापना करने से मन मे कोई विशेष प्रकार का प्रकाश प्रस्फुटित होगा और वाग्देवता (सरस्वती) भी मुखकमल में स्थान ग्रहण कर लेती हैं, परम-गुरु की उपासना से उस सकल-निष्कल अक्षर के श्रेष्ठ उपदेश को प्राप्त करके तुम इस परम उपदेश से किसी भी तरह इस लोक में इन्कार

कभी भी मत करो—मत करो।

भावार्थ—उपदेश को समझकर उसे फिर कभी भी नहीं भूलना चाहिए—यह तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में आचार्य योगीन्दु ने परमात्मा के वाचक मत्र 'अर्हं' की आराधना का महनीय फल बताते हुए उसे हृदय में धारण करने की प्रेरणा दी है।

उस मत्र की प्राप्ति के साधनरूप मे उन्होंने 'गुरु सेवा' का उल्लेख किया है। अध्यात्म-साधना मे, विशेषकर योगसाधना मे गुरु का विशेष महत्त्व होता है। योगीन्दु देव ने 'अमृताशीति ग्रन्थ' मे ही अन्यत्र (देखें, छन्द 27, 34, 38) भी गुरु के महत्त्व को बतलाया है। तत्त्वानुशासन, पद्मनंदिपचविंशति तथा ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थो मे भी गुरु का महत्त्व बतलाते हुए साधक को निर्विघ्न व सुनिश्चित सफलता के लिए ज्ञानी गुरु का सान्निध्य प्राप्त करना अनिवार्य बतलाया है।

मत्र के फलस्वरूप आचार्यदेव ने हृदय में कोई अपूर्व प्रकाश स्फुटित होना बताया है, वह ज्ञान का ही आलोक है, क्योंकि इसके साथ ही वे 'वाग्देवता' का मुख-पदन्यास भी फलरूप में बता रहे है। ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थो मे वर्णमातृका (समस्त वर्णसमूह) के ध्यान से सम्पूर्ण श्रुत के ज्ञान की उत्पत्ति होना बतलाया है (ज्ञानार्णव, 35/2-6)। 'अर्हं' मन्त्र मे 'अ' से 'ह' तक समस्त वर्णमात्रिका व वाङ्मय का प्रतिनिधित्व आ जाता है (तत्त्वानुशासन, 101), अत इसके जपादि से ज्ञानमूर्ति सरस्वती का स्फुरण होना स्वाभाविक ही है। शास्त्रो में इस मत्रराज को 'ज्ञान का बीज' व 'साक्षात् सर्वज्ञ जिनेन्द्र का रूप' माना है (ज्ञानार्णव, 35/12-13)। इसके ध्यान से 'ज्ञान' की पूर्णसिद्धि मानी गई है (तत्त्वानुशासन, 198)।

जैन शास्त्रो में इस मन्त्रराज की विविध प्रकार से उपासना का निरूपण है और साथ ही इसकी आराधना से प्राप्त होने वाले फलो मे अतीन्द्रिय ज्ञान, अप्रतिम ऐश्वर्य तथा अणिमा आदि सिद्धियो की प्राप्ति का भी निरूपण किया गया है। (ज्ञानार्णव -35/7 29)।

उत्थानिका—येन्नेवरं प्रवर्धमान-निर्मलार्हद्-बालचन्द्रोदय-मागदन्नेवर विस्तीर्णमक्कुमेंदु पेळ्दपरू—

भ्रातस्तमस्ततिरियं सरतीह तावत्,
तावच्च रे ! चरसि ही रजसि त्वमेव ।
यावत् स्वशर्म-निकरामृतवारि वर्षन्,
अर्हन्-हिमांशुरुदयं न करोति तेऽन्त. ॥32॥

टीका—(यावत्) येन्नेवर (स्वशर्मनिकर) निजानंदसतानमेंब (अमृतवारि वर्षन्) सुधाम्बुव करेउत्त (अर्हन्) वाच्य-वाचकरूप-सहजार्हद्देवनेंब (हिमाशु) निर्मलबालचन्द्रम (उयम्) प्रादुर्भूतिय (न करोति) माड (तेऽन्त) निन्न मनो-गमन-मध्यदोळ्, (तावत्) अन्नेवर (भ्रात !) एलेयण्ण ! (तमस्ततिरियम्) ई अज्ञानगळ्तले (सरति) वर्तिसुगु (इह) इल्लि, (तावच्च) मत्तमनेवरं (रे !) 'एले नण्ट' (त्वमेव) नीने (रजसि) विवेकविकळधूलियोळ् (ही) कष्ट (चरसि) वर्तिसुवे ।

भावार्थ—व्यवहारप्रत्ययनिमित्तमागियुमात्माराधनाभ्यास-निमित्तमक्कुमेंबुदु सूत्रार्थम् ।

उत्थानिका—जब तक प्रवर्धमान निर्मलार्हद्रूपी बालचन्द्रमा का उद्य नही होता है, तब-तक (अज्ञानरूपी अन्धकार) फैलता रहता है—ऐसा कहते है—

खण्डान्वय—भ्रात !=हे भाई ! इय तमस्तति=यह अंधकार की पक्ति, इह=यहां, तावत्सरति=तब तक ही फैलती रहेगी, च =और, ही=खेद की बात है (कि), तावत्=तब तक, त्वम्=तुम, रजसि एव=(विवेकहीनता की) धूल में ही, चरसि=पड़े रहोगे, यावत्=जबतक, स्वशर्मनिकरामृतवारिवर्षन्=निजसुखसमूहरूपी अमृतजल की वर्षा करता हुआ, अर्हन् हिमाशु=अर्हन्त रूपी चन्द्रमा, ते अन्त=तुम्हारे अन्त.करण में, उदयं न करोति=उदित नही होता है ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जब तक निजानन्द की सन्तान रूपी

अमृत-जल की वर्षा करता हुआ वाच्य-वाचक-रूप सहज अर्हद् देव रूपी निर्मल बालचन्द्रमा प्रादुर्भूत नही होता है तुम्हारे मनरूपी आकाश के मध्य में, तब तक हे भाई ! यह अज्ञान प्रवर्तित रहता है यहाँ, और तभी तक हे भाई! तुमही विवेकहीनता की धूल मे, कष्ट है, रहोगे।

भावार्थ—व्यवहार प्रत्यय के निमित्त होने पर आत्मा की आराधना के अभ्यास का निमित्त हो जायेगा—ऐसा सूत्रार्थ है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में 'अर्हन्त देव' के ध्यान से अज्ञान-अन्धकार के विनष्ट होने तथा कर्म-कालिमा दूर होने का निरूपण किया है। योगीन्दु देव कहते है—कि हे भाई ! इस अज्ञानान्धकार का प्रसार तुम्हारे अन्तरग में तभी तक रहेगा और कर्मरूपी धूल में तुम तब तक लिप्त रहोगे, जब तक निजानन्द के पुजरूप अमृतजल की वर्षा करता हुआ 'अर्हत्-चन्द्र' तुम्हारे अत करण मे उदित नही हो जाता है।

'अर्हत्' को चन्द्रमा का रूपक ज्ञानार्णव में भी प्राप्त होता है। आ. शुभचन्द्र लिखते है कि 'अर्हन्त देव लोकालोक के प्रकाशक, निर्मल शरत् कालीन कोटिचन्द्रो की कान्ति से युक्त है (द्र० ज्ञानार्णव, 36/46)।

इस अवस्था में वस्तुगत भेद ध्याता—साधक और ध्येय—अर्हन्त परमात्मा मे इतना ही रह जाता है कि अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय साधक के शक्तिरूप मे हैं व अव्यक्त है, तथा अर्हन्त परमात्मा के वे व्यक्त हैं। (ज्ञानार्णव 35/50)। साधक ध्यान-साधना द्वारा स्वय मे कर्मावरणो को हटाकर उक्त गुणो को प्रकट करने में सफल होता है, तथा रागादि मल के पूर्णत क्षीण हो जाने से परम निर्मलता को प्राप्त होता है। (द्र० ज्ञानार्णव 29/49, 31/9, 36/45, 39/25)।

उत्थानिका—परम्पराक्षरसुखहेतुभूतपरमात्मनामाक्षरम पेळ्-दपरु—

> **'र्हं' मन्त्रसारमतिभास्वरधामपुंजम्,**
> **सम्पूज्य पूजिततमं जपसंयमस्थ. ।**
> **नित्याभिराममविराममपारसारम्,**
> **यद्यस्ति ते शिवसुखं प्रति सम्प्रतीच्छा ।।33।।**

टीका—(नित्याभिरामम्) निरन्तरशोभासमन्वितमु (अविरामम्) विगतावसानमु (अपारसारम्) अनतसारमुमप्प (शिवसुख प्रति) सनातनानन्दपेक्षयिं (सम्प्रति) वर्तमानदोळु (इच्छा) वाञ्छे (ते)निनगे (यदि) एल्लियानु (अस्ति) उण्टक्कुमप्पडे, (मन्त्रसारम्) सकल-मन्त्रसारमु (अतिभास्वरधामपुजम्) अतिमनोहरललितप्रकाशराशियु (सम्पूज्य पूजिततमम्) जगताराध्यरिदाराधिसल्पट्टुदुमप्प ('र्हं')अर्हद-क्षरम (जपसंयमस्थ) जपानुष्ठाननागि चिन्तिसु ।

भावार्थ—अर्हदक्षर-ध्यानाभ्यासमनतसुखहेतुभूतात्माभ्यास-निमित्तमक्कुमेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—परम्परा से अक्षयसुख के कारणभूत परमात्मा के नाम के अक्षर (र्हं) को बतलाते हैं—

खण्डान्वय—यदि = यदि, ते = तुम्हारी, नित्याभिरामम् = त्रिकाल-मनोहारी, अविरामम् = अविनाशी, अपारसारम् = अनन्तसाररूप, शिवसुख प्रति = मोक्षमुख के प्रति, सम्प्रति = अभी, इच्छा = इच्छा, अस्ति = है, (तो), पूजिततमम् = पूज्यतम, अतिभास्वरधामपुजम् = अत्यन्त प्रभावान् तेज पुज, मन्त्रसारम् = मन्त्रो का सारभूत, 'र्हं' = अर्हन्त पद के वाचक 'र्हं' अक्षर का, जपसयमस्थ = जय और सयम मे स्थित होकर (चिन्तन करो) ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—निरन्तर शोभा-समन्वित, अवसान-रहित, अनंतसाररूपी सनातन आनद की अपेक्षा से वर्तमान में वाञ्छा तुम्हे रहती यदि है तो सम्पूर्ण मन्त्रों के सारभूत, अत्यन्त मनोहरी, सुन्दर प्रकाश की राशि, जगत् के समस्त आराध्यो से भी आराधित होने योग्य अर्हन्त -अक्षर के जप के अनुष्ठान को करके चिन्तन करो ।

भावार्थ—अर्हन्त के अक्षर (र्हं) के ध्यान का अभ्यास अनंतसुख के कारणभूत आत्मा के अभ्यास में निमित्त होता है—यह तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में 'र्हं' मन्त्र को समस्त मंत्रों का सारभूत बनाते हुए उसकी आराधना करने की प्रेरणा दी गई है। आचार्य देव कहते हैं कि "हे साधक ! यदि तुम्हे अभी मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो, तो अत्यन्त प्रकाशमान ज्योति के पुजभूत, नित्य शोभायमान, अविनाशी, अनन्तशक्तिसम्पन्न तथा अत्यन्त पूजनीय 'र्हं' नामक श्रेष्ठ मंत्र के जप-अनुष्ठान में दत्तचित्त हो जाओ।"

ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थो में मत्राराधना का क्रम बताते हुए कहा गया है कि 'अर्हं' मत्र का स्मरण करते-करते रेफ, बिन्दु, कला से समन्वित 'ह' अर्थात् 'र्हं' का चितन करना चाहिए। फिर रेफ, बिन्दु व कला से रहित मात्र 'ह' का, और तदनन्तर अक्षर स्वरूप से रहित व उच्चारण रहित सूक्ष्म 'ह' का, तथा तदनन्तर बालाग्र समान अतिसूक्ष्म तत्त्व अनाहत देव 'ह' का चितन करना चाहिए, जो कि क्रमश सूक्ष्मतर है। (द्र ज्ञानार्णव, 35/23-27)। इसी निरूपण के अनुरूप आचार्य योगीन्दु-देव ने प्रस्तुत पद्य में 'र्हं' का तथा आगे के पद्यो मे और अधिक सूक्ष्मतर ध्यान-प्रक्रिया का वर्णन किया है।

इस चितन-ध्यान का फल अतीन्द्रियज्ञान, अणिमादि ऋद्धियाँ तथा परम्परया अनन्तसुख की प्राप्ति प्ररूपित किया गया है। (द्र. ज्ञानार्णव, 35/28-29)।

यहाँ पर 'सप्रति' शब्द विशेष महत्त्व रखता है। इसका तात्पर्य है कि मोक्ष अभी, इसी समय और हर कीमत पर प्राप्त करने की अदम्य आकाक्षा व अपूर्व समर्पण-वृत्ति जिसकी हो, उसे लक्ष्य करके यह कथन है। जिन्हे मात्र धर्म-श्रवण का भाव हो या क्षयोपशम-वृद्धि की आकाक्षा से जो यह वर्णन सुनना-पढना चाहते हो, उन्हे ये समस्त विवेचन कोई विशेष लाभ देने वाले नही हैं। उन्हे क्षणिक कषाय की मन्दता या ज्ञान के मद के अलावा कुछ प्राप्ति होने वाली नही है।

उत्थानिका—तदु भेदनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रावतारम्—

द्व्येकाक्षरं निगदितं ननु पिण्डरूपम्,
तस्यापि मूलमपर परमं रहस्यम्।
वक्ष्यामि ते गुरुपरम्परया प्रयातम्,
यन्नाहतं ध्वनति तत्तदनाहताख्यम् ॥34॥

टीका—(द्वयक्षरम्) अर्ह एबेरडक्करम (एकाक्षरम्) ह्रं एबुदोदक्करमुमप्प (पिण्डरूपम्) पिण्डात्मकमन्त्र(ननु) एले(निगदितम्) निरूपिसल्पट्टदु, (तस्यापि) मत्तामत्रद मूल मोदलप्प (अपरम्) मत्तोन्दु (परमम्) उत्कृष्टमप्पुददु (रहस्यम्) कट्टेकातमप्पुदद (वक्ष्यामि) पेळ्वे। (ते) निनगे (गुरुपरम्परया) गणधरदेवादिगुरुपरपरयि (प्रयातम्) वन्दुदु (यत्) आवुदोन्दनाहत (ध्वनति) विडल्पडदेदु पेळ्पट्टदु (तत्) अदेबुदु समास-प्रारम्भवाक्य (तदनाहताख्यम्) अदनाहतमेंब प्रसरनुल्लुदेदु पेळ्दपरु। समासपदं शीर्ष-नाभिरहित-वर्णान्तिमननाहतमेंबुदु तद्वाच्यम्।

भावार्थ—परमपारिणामिकभावमक्कुमेबुदु अभिप्रायम्।

उत्थानिका—उस (अर्हन्त परमात्मा के ध्यान के) भेदो का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत सूत्र है—

खण्डान्वय—ननु=अरे! पिण्डरूपम्=पिण्डात्मक मत्र, द्व्येकाक्षरम्=दो और एक अक्षर वाला, निगदितम्=कहा गया है। तस्यापि=उसका भी, मूलम्=मूल, (जो) अपरम्=अन्य/दूसरा है, (वह) परम रहस्यम्=उत्कृष्ट रहस्य है (जो कि) गुरुपरम्परया=गुरुपरम्परा से, प्रयातम्=आया है, (उसे) ते=तुम्हारे लिए, वक्ष्यामि=कहता हूँ। यत्=जो, नाहतम्=बिना आहत हुए, ध्वनति=ध्वनित होता है, तत्=इसलिए, तद्=वह, अनाहताख्यम्=अनाहत नाम से प्रसिद्ध है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—उस 'अर्हं'—ऐसे दो अक्षरों को, 'ह्रं'—ऐसा एक अक्षर वाले पिण्डात्मक मंत्र को अरे! कहा गया है। और उस मत्र के मूल प्रथम एक उत्कृष्ट वह निमग्न होने वाले को बतलाता हूँ। तुम्हारे लिए गणधर देवादि की गुरुपरम्परा से आया हुआ 'जो

अनाहत ध्वनित है' ऐसा कहा गया है, 'तद्' यह समारम्भक वाक्य है, वह 'अनाहत' इस नाम से प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं। समासपद से तात्पर्य 'शीर्ष व नाभिरहित है, तथा वर्णान्त को अनाहत कहते हैं'—ऐसा 'तद्' शब्द का वाच्यार्थ है।

भावार्थ—परम-पारिणामिक भाव इसी से होता है—यह अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अनाहत-आराधना का निरूपण किया गया है। आचार्यदेव कहते है कि परमात्मा का वाचक दो अक्षर वाला 'अर्हं' तथा एकाक्षर मत्र 'हं'—ये दोनो मत्र पिण्डात्मक (पूर्णशरीरात्मक) कहे गये है। किंतु उक्त मत्रद्वय का भी मूल कोई अन्य परम रहस्य है। गुरु-परम्परा से प्राप्त उस रहस्य को हे साधक! मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, वह 'अनाहत' है। क्योकि वह आहत हुए बिना ध्वनित होता है।

ध्यान की प्रक्रिया मे 'हं' मन्त्र भी धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्मरूपता को प्राप्त होता हुआ 'ह' रूप मे रह जाता है। वही क्रमश. चन्द्ररेखा के समान सूक्ष्मता प्राप्त करता जाता है, यही अनाहत देव है। यह भी क्रमश सूक्ष्म होता हुआ अक्षररूप उच्चारणयोग्यता को त्याग देता है। चूकि इसकी उत्पत्ति बिना आहत हुए (उच्चारण प्रक्रिया के बिना) सहज होती रहती है, अत इसका नाम 'अनाहत' है (ज्ञानार्णव, 35/25-27, हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र, 8/18-26)।

'अनाहत' की आराधना से सर्वज्ञता एव विशिष्ट सिद्धियाँ साधक को हस्तगत हो जाती है (ज्ञानार्णव, 35/28-29, 88)। इसे त्रिलोक में सर्वश्रेष्ठ मत्र बताया गया है (ज्ञानार्णव, 35/87)।

उत्थानिका—अनाहृतमनरिदेन माळ्पुदेदडे पेळ्दपरु—

अस्मिन्ननाहृतबिले विलयेन मुक्ते,
नित्ये निरामयपदे स्वमनो निधाय।
त्वं याहि योग-शयनीयतल सुखाय,
श्रान्तोऽसि चेत् भवपथभ्रमणेन गाढम् ॥35॥

टीका—(भवपथभ्रमणेन) नरक-तिर्यक्-मानुष्य-प्रेतावासगताशेष-दु खप्रापणहेतुभूत-जन्ममार्गपर्यटनदि (गाढम्) पिरिदु (श्रान्तोऽसि चेत्) बळल्लदेयादोडे (सुखाय) निजात्मोत्थसुखनिमित्त (त्वम्) नीम (विलयेन मुक्ते) विळयरहितमु (नित्ये) नित्यमु (निरामयपदे) निरामयस्थानमु (अस्मिन्) ई परमागमप्रत्यक्षमप्प(अनाहृतबिले)अनाहृतरन्ध्रप्रदेशदोळविचळमागि (स्वमनो निधाय) निजचित्तमं ताळदि (योगशयनीयतलम्) निर्विकल्पसमाधिरूपहंसतूलतल्पतळम (याहि) पोर्दु।

भावार्थ—व्यवहारदि बाळाग्रष्टमभागप्रमितताळुरन्ध्रप्रदेशम, निश्चयदि निर्विकल्पसमाधिय मेणनाहृतबिलप्रदेशमेंदरिबुदु।

उत्थानिका—इस अनाहृत-मंत्र को जानकर क्या करना चाहिए, यह बतलाते हैं—

खण्डान्वय—चेत्=यदि, भवपथभ्रमणेन=जन्मादि के मार्ग मे होने वाले परिभ्रमण से, गाढम्=अत्यधिक, श्रान्त असि=थके हुए हो (तो), विलयेन मुक्ते=विनाशरहित, नित्ये=नित्य, निरामयपदे=नीरोगपद, अस्मिन् अनाहृतबिले=इस 'अनाहृत' रन्ध्रप्रदेश मे, स्वमनो निधाय=अपने मन को लगाकर, त्वम्=तुम, सुखाय=सुख-प्राप्ति-हेतु, योगशयनीयतलम्=योग (निर्विकल्प समाधि) रूप शय्या पर, याहि=चले जाओ (विश्राम करो)।

हिन्दी अनुवाद (टीका) नरक, तिर्यंच, मनुष्य और स्वर्ग गतियो में होने वाले सम्पूर्ण दु खो की प्राप्ति के कारणभूत जन्ममार्ग के परिभ्रमण से (यदि) अत्यन्त थके हुए हो, तो निजात्मा से उत्पन्न सुख के लिए विनाशरहित, नित्य, निरोगी अवस्था को, इस परमागम से प्रत्यक्ष हुए अनाहृतरन्ध्र प्रदेश में स्थिर होते हुए अपने मन को केंद्रित कर

निर्विकल्प समाधिरूप मुलायम पलंग (पर्यंक) को प्राप्त करो।

भावार्थ—व्यवहार से बाल के अग्रभाग के भी आठवें हिस्से प्रमाण तालुरन्ध्रप्रदेश को अथवा निश्चय से निर्विकल्प समाधि को 'अनाहृत बिलप्रदेश'—समझना चाहिए।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्यदेव ने स्थूल या सालम्बन ध्यान के बाद सूक्ष्म या निरालम्बन ध्यान अथवा रूपातीत ध्यान, और तदनन्तर शुक्लध्यान--निर्विकल्प समाधि की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है। वे कहते है कि हे साधक! चतुर्गति चौरासीलाख योनियो में जन्म-मरण का दुःखदायी परिभ्रमण करते-करते यदि तुम्हे थकान लगी हो, विषयो के प्रति नि सारता का भाव जागा हो तथा मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न हुई हो, तो तुम अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति-हेतु इस अविनाशी नित्य-निरामयपद अनाहतरन्ध्रप्रदेश मे अपने उपयोग को एकाग्र कर योग-रूपी शय्या पर विश्राम हेतु प्रस्थान करो।

योग-साधना की विश्रान्ति निर्विकल्प समाधि की पूर्णता के साथ हो जाती है। यह विश्रान्ति ही प्रकारान्तर से योग का 'शयनतल' है। अनाहत चक्र मे 'अर्हं' आदि मत्रो के सालम्बन ध्यान के अनन्तर साधक का लक्ष्य उक्त शयनतल की ओर प्रस्थान करना, अर्थात् रूपातीत धर्मध्यान तथा तदनन्तर शुक्लध्यान की स्थिति में पहुँचना अवशिष्ट रह जाता है (ज्ञानार्णव, 35/30-31, 37/15-16; तत्त्वानुशासन, 182)।

'अनाहत रन्ध्रप्रदेश' के बारे मे योगशास्त्र सम्मत अर्थ 'तालुरन्ध्र प्रदेश' को टीकाकार ने 'व्यवहार' कहा है तथा निर्विकल्प समाधि को 'निश्चय' अनाहतबिल कहा है। यह स्थिति अर्हन्त की उपासना आदि को प्रारम्भिक भूमिका के पार तन्मयता प्राप्त होने पर जब ध्याता-ध्यान-ध्येय का द्वैत भी मिट जाता है, तब प्राप्त होती है। साधक का यही लक्ष्य होना चाहिए कि उसे ऐसी निर्विकल्प समाधि की स्थिति प्राप्त हो (ज्ञानार्णव, 37/26-30, 38/25, 39/3,5)।

उत्थानिका—व्यवहारानाहतकारणम पेळ्दपरू—

लोकालोकविलोकनैकनयनं यद्वाङ्मयं तस्य या,
मूल बालमृणालनालसदृशीं, मात्रां सदा तां सतीम् ।
स्मारस्मारममन्द ! मन्दमनसा, स्फारप्रभाभास्वराम्,
संसारार्णव-पारमेहि तरसा किं त्वं वृथा ताम्यसि ॥36॥

टीका—(लोक) षड्द्रव्यभरितनिचयात्ममुम (अलोक) शुद्धाकाशरूपालोकमुम (विलोकन) अवलोकिसुवल्लिगे (एकनयनम्) असहायलोचनमुमप्प (यत्) आवुदोन्दु वाङ्मयम्) अर्हदभिधान भिन्नक्षरम (तस्य) अदर (या) आवुदानुमोन्दु (मूलम्) मूलमु (सतीम्) विद्यमानमु (स्फारप्रभाभास्वराम्) नयनमनोहरप्रौढतरप्रभाविराजमानमु(बालमृणालनालसदृशीम्)ललिततरबाळमृणाळनाळसमानमुमप्प (मात्राम्) मात्रेय (ताम्) अद (सदा) निरन्तर (अमन्द !) रे प्रौढ ! (मन्दमनसा) विवेकबहलचित्तदि (स्मार-स्मारम्) मगुळे-मगुळे नेनेदोडे (त्वम्) नीम (तरसा) शीघ्र (ससारार्णवपारम्) भववारिधितीरमं (एहि) ऐयिदुवे (वृथा) बरिदे (किं ताम्यसि) एकतडेवे ?

भावार्थ—व्यवहारदि बालमृणाळनालगगनाकारानाहतम, निश्चयदि परमपारिणामिकभाव-रूपानाहतम नेनेदोडे परंपरियि केवलज्ञानप्राप्तियक्कुमेंबुदु सूत्रतात्पर्यम् ।

उत्थानिका—व्यवहार से अनाहत का कारण बतलाते है—

खण्डान्वय—लोकालोकविलोकनैकनयनम्=लोकालोक के देखने के लिए जो एकमात्र नेत्र है (ऐसा), यद्वाङ्मयम्—जो (अर्हद् सज्ञक) वाङ्मय है, तस्य या मूलम्=उसका जो मूलभूत है, ताम्=उस, सतीम्=विद्यमान, बालमृणालनालसदृशीम्=बाल कमलनाल के समान, स्फारप्रभाभास्वराम्=मनोहारी प्रभा से प्रकाशमान, मात्राम्=मात्रा को, सदा=सदैव, मन्दमनसा=अचचल मन से, स्मार-स्मारम्=बारम्बार स्मरण करते हुए, अमन्द !=हे बुद्धिमान प्राणी ! तरसा=शीघ्र, ससारार्णवपारम्=भवसागर के पार, एहि=चले जाओ। त्वम्=तुम, वृथा=व्यर्थ ही, किं ताम्यसि=क्यो खिन्न हो रहे हो ?

हिन्दी अनुवाद (टीका)—छह द्रव्यो से भरित समहात्मक लोक, शुद्धाकाश रूप अलोक को देखने वाले असहाय नेत्ररूपी जो अर्हन्त नामक भिन्न अक्षर, उसका जो कोई मूल विद्यमानरूप, नेत्रो के लिए मनोहारी, विस्तृत आभा से सुशोभित, अत्यन्त सुन्दर बालमृणालनाल के तन्तु के समान जो मात्रा, उसका हे बुद्धिमान ! विवेकयुक्त मन से पुन - पुन चितन करने पर तुम शीघ्र ससारार्णव के पार को प्राप्त करो। व्यर्थ क्यो अटके हुए (खेदखिन्न हो रहे) हो ?

भावार्थ—व्यवहार नय से बालमृणालनालस्थ गगनाकार अनाहत का, निश्चय से परमपारिणामिक भावरूप अनाहत का चितन करने पर परम्परा से केवलज्ञान की प्राप्ति होगी—ऐसा सूत्रतात्पर्य है ।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे ससार रूपी समुद्र से पार होने के लिए साधना में अग्रसर होने की प्रेरणा दी गई है।

'अर्ह' को सम्पूर्ण वाङ्मय का प्रतिनिधि तथा लोक-अलोक को देखने के लिए एक अद्वितीय चक्षु कहा गया है। इतना ही नही, उस 'अर्ह' का भी जो मूल है, उस बालमृणाल के समान स्थिर एव मनोहर प्रभा से प्रकाशमान 'मात्रा' (अनाहत) को अमन्द (तीव्र/एकाग्र) चित्त-वृत्ति से स्मरण करते-करते यथाशीघ्र ससारार्णव से पार पहुँचने को कहा गया है । तथा यही अधिक सोच-विचार कर खेदखिन्न होने को व्यर्थ प्रलाप मात्र बताया है ।

यहाँ भी टीकाकार ने बालमृणालनालस्थ गगनाकार रूप अनाहत को 'व्यवहार' तथा 'निश्चय' दोनो दृष्टियो से विवेचित किया है। इस परम पारिणामिक भावरूप निश्चय अनाहत तत्त्व शुद्ध ज्ञायक परमात्मा का आलम्बन लेकर योगीजन ससारार्णव से पार हो जाते है। (ज्ञानार्णव, 35/32) । यहाँ इसका फल परम्परा से कैवल्य-प्राप्ति बताया है जो कि इसी अर्थ का पोषण करता है।

यहाँ 'तरसा' शब्द सकोचशील अथवा मदपुरुषार्थी जीवो को सचेष्ट व गतिशील होने के लिए प्रयोग किया गया है। आचार्य कहते है कि अब अधिक सोच-विचार व आशकाओ के चक्कर में पड़कर एक क्षण मात्र भी समय गँवाना उचित नही है। हे भव्यजीव ! तुम अविलम्ब / तुरन्त इस अनाहत तत्त्व का आलम्बन लो; क्योकि इसके बिना व्यर्थ की खेदखिन्नता ही प्राप्त होने वाली है।

उत्थानिका—आसन्नभव्यजीवमाध्यात्मिकधर्मध्यानम निरूपिसे मत्तमदने सूक्ष्मरूपदि पेळ्दपरु —

जन्माम्बोधि-निपातभीतमनसां, शश्वत्सुखं वाञ्छताम्,
धर्मध्यानमवादि साक्षरमिव, किञ्चित् कथंचिन् मया।
सूक्ष्मं किंचिदतस्तदेव विधिना, सालम्बनं कथ्यते,
भ्रू भंगादिकदेशसगतमृते, देशैः परै किञ्चन ॥37॥

टीका—(जन्माम्बोधि) विषमससारार्णवदोळ् (निपातभीतमनसाम्) बीळलजुवमनमनुल्लरु (शश्वत्सुखम्) अनश्वरसुखमं (वाञ्छताम्) बयसुवरुमप्प विप्रकुलतिलकप्रभाकरभट्टाद्यासन्नभव्यजनगळ्गे (किञ्चिद्) किरिदु (साक्षरम्) जिननामाक्षरोपेतमप्प (इद धर्मध्यानम्) ई विशिष्ट धर्म-ध्यान (मया) श्रीयोगीन्द्रदेवनप्पेन्निं (अवादि) निरुपिसेपट्टदु। (अत) तदनन्तर (कथचित्) एत्तानु (तदेव) अदुवे (किचित्) किरिदु (सूक्ष्मम्)लोचनगोचरमल्लदुदरि सूक्ष्ममप्पदु(विधिना)सोपदेश-विधियि (भ्रूभगादिकदेशसगतम्) भ्रू भ्रकुट्यादिप्रदेशयोग(ऋते) इल्लागुत्तमिरे (किचन) किरिदु (परै) उत्कृष्टमप्प (देशै) निजाग-प्रदेशगळि (सालम्बनम्) आलबनदोडगूडिदुदागि (कथ्यते) निरूपिसे पडुगु।

भावार्थ—अनाहतप्रदेशगळ् फलवोळ् वेबुदु भावार्थम्।

उत्थानिका—आसन्नभव्य जीव के लिए आध्यात्मिक धर्मध्यान का प्रतिपादन करते हुए, उसी का सूक्ष्म रूप से निरूपण करते है—

खण्डान्वय—जन्माम्भोधिनिपातभीतमनसाम्=ससाररूपी सागर मे पड होने से भयभीत मनवाले है, और, शश्वत्सुखम्= अविनाशी सुख की, (जो), वाछताम्=इच्छा करते है, उनके लिए, किचित्=कुछ, कथचित्=किसी प्रकार से, साक्षरम्=अक्षरज्ञान युक्त, इदम्=यह, धर्मध्यानम्=धर्मध्यान (विषयक निरूपण), मया= मेरे द्वारा, अवादि=कहा गया है। तदेव किचित् सूक्ष्मम्=उसी (निरूपण से सम्बद्ध अपेक्षाकृत) कुछ सूक्ष्म बात को, विधिना= विधिपूर्वक, भ्रूभंगादिकदेशसगतमृते=भ्रकुटि आदि प्रदेश के बिना, परै देशै=उत्कृष्ट (निज) प्रदेशो द्वारा, सालम्बनम्=सालम्बनधर्म-ध्यान (विषयक), किचन कथ्यते=कुछ कहा जा रहा है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—विषम संसाररूपी समुद्र में गिरने से भयभीत मनवाले, अनश्वर सुख को चाहने वाले—ऐसे विप्रकुलतिलक-भूत प्रभाकरभट्ट आदि आसन्न भव्य जीवो के लिए जिनेन्द्रदेव के नाम के अक्षरयुक्त रूपवाले इस विशिष्टधर्मध्यान का मुझ योगीन्द्रदेव के द्वारा निरूपण किया गया है। इसके बाद अन्य प्रकारान्तर से उसी का, जो कुछ (अपेक्षाकृत) दृष्टिगोचर न होने की अपेक्षा से सूक्ष्म है-- ऐसी उपदेश-विधि का भ्रू-भ्रकुट्यादिप्रदेश का योग नही होने पर कतिपय उत्कृष्ट निज शरीरप्रदेशो द्वारा आलंबन-सहित होकर प्ररूपण किया जाता है।

भावार्थ—अनाहत प्रदेश उत्कृष्ट फल को देने वाले हैं—यह भावार्थ है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य विगत ध्यान सम्बन्धी वर्णन तथा आगामी वर्ण्य-विषय के मध्य सेतु का कार्य कर रहा है। अभी तक के वर्णन का यदि इसमे उपसंहार है तो आगे के विशिष्ट ध्यान-योग सम्बन्धी वर्णनो की भूमिका भी इसमे है।

इसकी पात्रता के रूप मे उन्होने दो विशेषताये साधक में होना आवश्यक बतायी हैं, वे है—साधक को ससार-सागर के दारुण दु खो से भयभीत चित्तवाला होना चाहिए तथा उसे अस्थायी या क्षणिक सुख का आकर्षण न होकर शाश्वत सुख की प्राप्ति की चाह होनी चाहिए। ये दोनो ऐसी विशेषताये हैं कि प्रत्येक धर्माराधक में होना अनिवार्य है, अन्यथा उपदेश श्रवणेन्द्रिय का विषय तो बन जाता है किन्तु तदनुरूप जोवन नही हो पाता।

'अवादि' पद से स्थूल सालम्बन धर्मध्यान के वर्णन का उपसहार किया गया है तथा 'कथ्यते' पद वर्ण्यमान सूक्ष्म सालम्बन धर्मध्यान की ससूचना दे रहा है।

भ्रकुटी आदि के मध्यवर्ती प्रदेशो का आलम्बन लिये बिना अपने उत्कृष्ट अन्तरग अनाहत प्रदेशो में उपयोग को एकाग्र करने का आदेश यहाँ साधक को आचार्य दे रहे है। अभी तक 'साक्षर' (अक्षर के आलम्बन सहित) धर्मध्यान का कथन आचार्य ने किया है, अब निर्विकल्प निश्चल शुद्धात्मानुभूति का योगशास्त्रीय विवेचन विवक्षित है, ऐसा संकेत यहाँ दिया गया है।

उत्थानिका—बिन्द्वनाहत-निरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

व्रजसि मनसि मोहं, चंचलं तावदेवम्,
बहुगुणगणगण्यं, मन्यसेऽन्यञ्च देवम् ।
गुरुवचननियोगान्नेक्षसे यावदेवम्,
शशधरकरगौरं बिन्दुदेव स्फुरन्तम् ।।38।।

टीका—(यावदेवम्) एन्नेवरमेतु (गुरुवचननियोगात्) भेदाभेद-रत्नत्रयाराधना-निरत-गुरूपदेशदत्तणि (शशधरकरगौरम्) विमळामृत-करकिरणगौरनु (स्फुरन्तम्) सकल-लोकप्रकाशकनु (बिन्दुदेवम्) निस्तलमुक्ताकारनमप्प शुद्धात्मन (नेक्षसे) काणे, (तावत्) अन्नेवर (मनसि) मनदोळ् (मोहम्) मुह्यभाववक्के (व्रजसि) सल्वे । (तावदेव) अन्नेवरमे (चचलम्) अळ्ळाटममुळ्ळप्पे (बहुगुणगणगण्यम्) पलवु गुणगळ णिकंगोळगाद (अन्य च देवम्) मत्तोर्वदेवन (मन्यसे) अभ्युदय-नि श्रेयस-सुखहेतुवेंदु मन्निसूवे ।

भावार्थ—बिन्द्वनाहतम नेनेदोडैहिक-कामत्रिक-फलसिद्धियक्कु-मेबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—बिन्दु रूप अनाहत निरूपण करने के लिए प्रस्तुत पद्य है—

खण्डान्वय—तावत्=तभी तक, मनसि=मन मे, मोहं व्रजसि=मोह को प्राप्त होते रहोगे, यावत्=जब तक, एवम्=ऐसे, चचलम्=अस्थिर रहने वाले, अन्य देवम्=किसी अन्य देव को, बहुगुणगण-गण्यम्=अनेक गुणो के समूह से युक्त, मन्यसे=मानते रहोगे। च=और, यावत्=जब तक, एवम्=इस प्रकार, गुरुवचननियोगात्=गुरु के उपदेश के नियोग से, शशधरकरगौरम्=चन्द्रकला के समान गौर वर्ण वाले, स्फुरन्तम्=प्रकाशमान, बिन्दुदेवम्=बिन्दुभूतदेव का, न ईक्षसे=साक्षात्कार नही कर पाते हो।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जब तक ऐसे भेद व अभेद रत्नत्रय की आराधना मे निरत गुरु के उपदेश से निर्मल सुधाकर (चन्द्रमा) की किरणो के समान गौरवर्णवाले, सपूर्ण लोक के प्रकाशक निस्तल (आधार-रहित, निजाधार) मुक्त-आकार रूपी शुद्धात्मा को नही

देखते हो, तब तक (तुम) मोह भाव को प्राप्त रहोगे। (और) तभी तक अस्थिर रहने वाले अनेक गुणों के गणनान्योग्य किसी अन्यदेव को (अपने) अभ्युदय व नि·श्रेयस के सुख का कारण मानते रहोगे।

भावार्थ—बिन्दु रूप अनाहत का ध्यान करने से इस लोक सम्बन्धी कामत्रिक के फल की सिद्धि होगी—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—आचार्य योगीन्दुदेव शिष्य को यह समझाते है कि निज आनन्दकद शुद्धात्म तत्त्व (बिन्दुदेव) की अनुभूति तुम्हे जब तक प्राप्त नही हो जाती है, तब तक तुम कोटि प्रयत्न करते रहो तब भी अनादि मिथ्यात्व के संस्कार के वशीभूत होकर तुम्हारा मन परपदार्थो के प्रति मोही-वृत्तियो को जन्म देता रहेगा, फलत तुम्हारी सारी धर्म-साधना किवा योग-साधना निष्फल होती रहेगी।

यहाँ शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए पुन योगीन्दुदेव 'ज्ञानी गुरु' का उपदेश प्राप्त करने का संकेत दे रहे है। ज्ञानी गुरु के उपदेश की महिमा ही ऐसी है कि निज शुद्धात्मदेव के अतिरिक्त जगत् के समस्त गुणी-महिमाशाली देव तुष के समान उपेक्षणीय लगने लगेगे। क्योकि अन्य सभी देव मन में चचलता व मोह के प्रसार को रोकने में असमर्थ रहे है।

टीकाकार ने मूलग्रन्थकार के कथन का मूल मर्म उद्घाटित करते हुए 'शशधरकरगौरं बिन्दुदेव' का अर्थ 'सिद्धसमान शुद्धात्मतत्त्व' किया है, यह उत्कृष्ट, निश्चयपरक व्याख्या है। तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थो मे इसकी योगशास्त्रीय व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। तदनुसार 'अर्ह' मत्र पद का हृदय में ऊँची उठती ज्योति के रूप ध्यान किया जाता है (द्र तत्त्वानुशासन, 101)। यह ज्योति धीरे-धीरे सूक्ष्मरूप होती हुई एक प्रकाश-बिन्दु के समान ध्यान में अवशिष्ट रह जाती है, यही 'शशधरकरगौर बिन्दुदेव' है। इसका फल भावार्थ में ऐहिक धर्म, अर्थ व काम की सिद्धि कहा गया है।

उत्थानिका--बिन्दुदेवाराधनाप्रदेशमुम तदाराधनाफलमुमं पेळ्दपरु —

झटिति करणयोगाद् वीक्ष्यते भ्रू युगान्ते,
व्रजति यदि मनस्ते बिन्दुदेवं स्थिरत्वम् ।
त्रुटति निबिडबन्धो वश्यतामेति मुक्तिः,
तदलममलतल्पे योगनिद्रां भजस्व ।।39।।

टीका—(झटिति) शीघ्रं (करणयोगात्) करणनिचयएकत्वदत्तणि (भ्रू युगान्ते) भ्रू-युगल-मध्यदोळु (बिन्दुदेवम्) सकलयोगी-जनाराध्य-बिन्दुदेव (वीक्ष्यते) निरीक्षसे पट्टनादोडे (ते) निन्न (मन) चित्तं (स्थिरत्वम्) तद् बिन्दुदेवनोळविचलमागि (व्रजति यदि) सन्दुदादोडं (निबिडबन्ध) हरि-हराद्यभेद्य-प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश-नामधेयनिबिडरज्जुबन्ध (त्रुटति) परिगु, (मुक्ति) तद्बन्ध-निर्मुक्ति-रूप निश्रेयस्श्री (वश्यताम्) वशवर्तित्ववक्के (एति) बक्कु। (तत्) अदु कारणदिं (अलम्) अत्यर्थं (अमलतल्पे) निर्विकल्पध्यानामल-मृदु-शयनदोळु (योगनिद्राम्) एकाग्रचितानिरोधलक्षणयोगनिद्रय (भजस्व) अनुभविसु।

भावार्थ—उपचरितानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयदि शृंखलादि-प्रकृत्यादिबंधमोक्षमक्कुमेंदरिबुदु।

उत्थानिका—बिन्दुदेव की आराधना के प्रदेश तथा उस आराधना का फल बताते है—

खण्डान्वय—झटिति=शीघ्रता से, करणयोगात्=इन्द्रिय-योग से, भ्रू युगान्ते=भ्रू-युगल के मध्य में, बिन्दुदेव=बिन्दुदेव को, वीक्ष्यसे=देखोगे(इसके फलस्वरूप)यदि ते मन =यदि तुम्हारा मन, स्थिरत्व व्रजति =स्थिरता को प्राप्त होता है। (और) निबिडबन्ध त्रुटति=अत्यन्त मजबूत बन्ध (कर्मबध) टूटता है (तथा) मुक्ति =मोक्ष (रूपी लक्ष्मी), वश्यतामेति=(तुम्हारी) आधीनता को प्राप्त होती है, तद अलम्=तो (इतना) पर्याप्त है। (अब तुम) अमलतल्पे=निर्मल (स्वभाव रूपी) शय्या पर, योगनिद्राम् भजस्व=योगनिद्रा को धारण करो।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—शीघ्र ही इन्द्रियो के समूह सम्बन्धी एकत्व से भ्रू युगल के बीच में सम्पूर्ण योगीजनो के द्वारा आराध्य बिन्दुदेव को देखते हो, तो तुम्हारा चित्त उस बिन्दुदेव में स्थिर होकर तादात्म्य होने पर, हरि-हर आदि के द्वारा भी अभेद्य ऐसा प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश नामक अत्यन्त दृढ रज्जुबन्ध टूट जाता है, और उस बन्ध से निर्मुक्तिरूपी मोक्षलक्ष्मी अपने वशवर्तीपने को प्राप्त हो जाती है। अत अन्य बातो से बस करो (और) निर्विकल्प ध्यान रूपी निर्मल, सुकोमल शय्या पर 'एकाग्रचिन्तानिरोध' लक्षणवाली योगनिद्रा का अनुभव करो।

भावार्थ—उपचरित और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से शृंखला आदि रूप प्रकृति (स्थिति) आदि बन्धनों से मोक्ष होता है—ऐसा समझना चाहिए।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्य स्पष्ट करते है कि अब समाधि की दशा प्राप्त करने के लिए 'एकाग्रचिन्ता-निरोध' लक्षण वाला निर्विकल्प ध्यान प्रारभ करो, और अन्य समस्त विकल्पो व बातो से विश्रान्त हो जाओ।

यहाँ 'योगनिद्रा' का अर्थ 'समाधि' है (द्र ज्ञानार्णव, 25/18) जो कि 'मोहनिद्रा' की अत्यन्त विरोधी अवस्था है। यह 'समाधि' सम्पूर्ण बन्ध का नाश करने के लिए किया जाने वाला अपूर्व पुरुषार्थ है, जो कि जीव को शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति कराता है।

उत्थानिका—पवनजयविधानम निरूपणार्थं मूलानाहतमं पेळ्दपरु—

सरलविमलनाली-द्वारमूले मनस्त्वम्,
कुरु सरति यतोऽयं ब्रह्मरन्ध्रेण वायुः।
परिहृतपरनाली - युग्ममार्गप्रयाण,
दलितमलदलौघ केवलज्ञानहेतु ॥40॥

टीका—(परिहृतपरनालीयुग्ममार्गप्रयाण) निराकृतान्यनाळिद्वयोर्ध्वगतिसमन्वितमु (दलितमलदलौघ) विनिर्भिन्नदुरितशक्तिसमुदयमु (केवलज्ञानहेतु) असहाय-ज्ञानकारणमप्प(अयं वायु) ई आनपानपवन(ब्रह्मरन्ध्रेण) सुसुम्नाभिधानदशमद्वारदि (सरति) मेल्लेने नडेगु, (यत) आवुदोंदु कारणदि (सरल-विमल-नालीद्वारमूले) कुडल्यभिधानमूलाधारजनित-सुषुम्णानामधेये सरल-विमलनाळिद्वारमूळदोळु (त्वम्) नीम (मन) चित्तय (कुरु) अविचलमागि निल्लुवन्ते माडु।

भावार्थ—"यत्र मनस्तत्र वायु"—एबुदरि मूलाधारगगनाभिधानात्मप्रदेशदोळिरे पवन ब्रह्मरन्ध्रदोळनन्तर्मूहूर्तमनीहितवृत्तियिं नडेये दुकर्मास्रवनिरोधमु, रोगोपशममु, सारस्वतमुमक्कुमेबुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—पवन-जय के विधान का निरूपण करने के लिए मूल अनाहत को बतलाते है।

खन्डान्वय—त्वम् = (हे जीव!) तुम, सरलविमलनालीद्वारमूले = ऋजु एव निर्मल नाडी (सुषुम्ना) का द्वार जहाँ है—उस प्रदेश मे, मन कुरु = चित्त को(स्थिर)करो, यत = ताकि, ब्रह्मरन्ध्रेण = सुषुम्ना नामक दसवी नाडी के द्वार से (बढती हुई), अय वायुः = यह वायु, परिहृतपरनालीयुग्ममार्गप्रयाण = अन्य दो नाडियो (इडा व पिंगला) का मार्ग छोडता हुआ, सरति = प्रयाण करे। (ऐसा होने पर यह वायु) दलितमलदलौघ = समस्त दुरित मल को नाश करने वाला (तथा) केवलज्ञानहेतु = केवलज्ञान का (परम्परया) साधन (होता है)।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जिसने अन्य नाडिद्वय का निराकरण कर दिया है, तथा जो ऊर्ध्वगति से युक्त है, (तथा) जिसने दुरन्त शक्तियों के समुदाय को अत्यन्त भिन्न (विलग/नष्ट) कर दिया है, (तथा) जो असहायज्ञान (केवलज्ञान) की कारणभूत है (ऐसी) यह आनपान वायु सुषुम्णा नामक दशम नाडिद्वार से धीरे से चलता है। इस कारण से 'कुण्डली' नामक मूल आधार से उद्भूत सुषुम्णा नाम की सरल-विमल नाडिद्वार-मूल में तुम मन को अविचल रूप में स्थिर कर दो।

भावार्थ—"जहाँ मन है, वहाँ वायु है"—इस प्रकार से मूलाधार-आकाश नामक आत्म-प्रदेश मे (स्थित) वायु को ब्रह्मरन्ध्र में अन्तर्मुहूर्त तक नि.कांक्षित वृत्ति से चलाने पर दुरित कर्मों के आगमन का निरोध एवं रोगों का उपशमन होगा—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—आचार्य योगीन्दुदेव ने प्रस्तुत पद्य में कुण्डलिनी योग-साधना का सक्षेप में सकेत करते हुए प्राणवायु को सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र मे प्रविष्ट कराने का परामर्श दिया है। वे कहते हैं कि हे साधक ! तुम सरल, निर्मल नाडी (सुषुम्ना) के द्वार पर मन को एकाग्र करो, ताकि यह (प्राण) वायु ब्रह्मरन्ध्र से सचार कर सके। यह वायु जब अन्य नाडियो का मार्ग छोडकर (सुषुम्ना मे) प्रवाहित होती है, तो समस्त कर्ममल-समूह को नष्ट करने वाली तथा 'केवलज्ञान' की हेतु हो जाती है।

प्राण-वायु-विषयक अभ्यास-साधना से मन पर विजय, रोगों का नाश तथा शारीरिक स्थिरता आदि लाभ प्राप्त होते हैं। (द्र०ज्ञानार्णव, 26/140-141)। 'ज्ञानार्णव' के 26वें प्रकरण मे कहा गया है कि जब वायु नाभिरूप कन्दरा से निकलकर हृदयकमल के मध्य होती हुई द्वादशान्त(ब्रह्मरन्ध्र)में विश्रान्ति प्राप्त करती है, तो साधक 'परमेश्वर' हो जाता है (द्र० ज्ञानार्णव, 26/47)।

उत्थानिका—मूलानाहताराधनारहित-जनक्लेश-निरूपणार्थमुत्तर-वृत्तावतारम्—

विलसदलसतातस्तीव्रकर्मोदयाद् वा,
सरलविमलनाली-रन्ध्रमप्राप्य लोक.।
अहह! कथमसह्यं दु खजालं विशालम्,
सहति महति नैवाचार्यमज्ञस्तदर्थम् ॥41॥

टीका—(विलसद्) पेर्च्चिद (अलसतात.) अलसुगेयत्तणि (तीव्र-कर्मोदयाद् वा) मिथ्यात्व-रागाद्यशुभकर्मोदयदत्तणि मेणु (सरल-विमलनालीरन्ध्रम्) अवक्रामलनाळि-विवरम (अप्राप्य) एय्यदे (अज्ञ) विज्ञानविकलमप्प (लोक·) जनं (अहह!) अक्कटा! (असह्यम्) कटु-विषप्रक्षमप्पुदरिनसह्यमु (विशालम्) बहुदु खोदयदि विस्तीर्णमु (महति) उत्कृष्टस्थिति-अपेक्षेयिनन्तातीतमुमप्प (दु खजालम्) पापोदय-निचयमं (सहति) सैरिसुगु (तदर्थम्) तद्दशमरन्ध्रोपदेशनिमित्त (आचार्यम्) जैनाचार्यनं (नैव महति) मन्निसुवुदल्तु।

भावार्थ—आसन्नभव्यजीवनल्लदनाहताराधने दोरेकोल्लदेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—प्रस्तुत छन्द मूल अनाहत की आराधना से रहित व्यक्ति के दु खो का वर्णन करने वाला है।

खण्डान्वय—विलसदलसतात =अत्यधिक प्रमादयुक्त आचरण करने से, वा=अथवा, तीव्रकर्मोदयात्=(पूर्वनिबद्ध पापकर्म) का तीव्र उदय होने से, लोक =यह प्राणी, सरलविमलनालीरध्र=सरल और निर्मल नाडी के छिद्र को, अप्राप्य=प्राप्त न करके, अहह!=अत्यन्त खेद की बात है (कि), कथम्=किस तरह से, विशालम्=प्रचुर, दु ख-जालम्=दु खो के समूह को, सहति=सहन करता है। (किन्तु) तदर्थम्=उस (निर्मल नाडी के छिद्र को) प्राप्त करने के लिए, आचार्यम्=आचार्य (योगशास्त्रीय गुरु) को, अज्ञ·=अज्ञानी प्राणी, नैव महति=महत्त्व नही देता है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—अत्यधिक आलस्य के कारण अथवा मिथ्यात्व, रागादि अशुभकर्मों के उदय के कारण ऋजु और निर्मल

नाडी-विवर (छिद्र) को न पाकर विज्ञान से रहित व्यक्ति, अत्यन्त खेद है कि, कड़वे विष के पान के समान असहनीय, प्रचुर दु ख के उदय से विस्तीर्ण, उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा से अनन्त पाप के उदय के समूह को सहन तो करता है, (किन्तु)उस दशम रन्ध्र के उपदेश-हेतु जैनाचार्य की (बात) नही मानता है।

भावार्थ—आसन्नभव्य जीव के अतिरिक्त (अन्य किसी को) अनाहत-आराधना प्राप्त नही होती है—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्य योगीन्दुदेव योगसाधना का रहस्य जानने के लिए सद्गुरु की उपादेयता का पुन सकेत कर रहे हैं।

सामान्यत अज्ञानी प्राणी बाह्य पदार्थों मे आसक्त रहता है और उसकी आत्मरति मे रुचि नही होती है। कदाचित् हो भी जाये, तो आलस्य के वशीभूत हो जाने से अथवा अप्रशस्त कर्मो के तीव्र उदय के कारण साधना-मार्ग से विपरीत हो वह आर्त्त-रौद्र ध्यानो मे ही ससक्त रहता है। परिणामत प्राणी सासारिक आसक्ति के चक्रव्यूह मे फँसकर अपने लिए दु खो का जाल बुनता रहता है और दु खी होता है। इस कष्ट के निवारण का उपाय एकमात्र ज्ञानी सद्गुरु के सान्निध्य में ही प्राप्त हो सकता है, क्योकि वे ही उसे अध्यात्म-साधना में अग्रसर होने का रहस्य बता सकते है।

योग-साधना का रहस्य मात्र शास्त्रो को पढने से प्राप्त नही हो जाता है, अपितु इसके निमित्त सद्गुरु के पास बैठकर उनका अनुग्रह प्राप्त होने पर ही इसकी सिद्धि हो सकती है। (द्र० पद्मनदिपंचविशति, 6/18-19) अतएव जिज्ञासु साधक को चाहिए कि वह ज्ञानी गुरु को खोजकर उनके सान्निध्य का लाभ प्राप्त कर अपने लक्ष्य में सफल होवे, किन्तु प्रमाद व कर्मोदय के कारण उसे सद्गुरु की प्राप्ति ही दुर्लभ होती है और यदि हो भी जाये तो उनके अनुग्रह से वह प्राय· वचित रह जाता है।

साधना-मार्ग मे सद्गुरु की उपादेयता का प्रतिपादन आचार्य योगीन्दुदेव ने अपने अन्य ग्रन्थ 'योगसार' (पद्य-41) में भी किया है।

उत्थानिका—अनाहृताराधना-निरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

रस-रुधिर-पलास्थि-स्नायु-शुक्र-प्रमेद-
प्रचुरतरसमीर - श्लेष्म-पित्तादिपूर्णे।
तन-नरक-कुटीरे वासतस्ते घृणा चेत्,
हृदयकमलगर्भे चिन्तय स्वं परोऽसि ॥42॥

टीका—(रस) रसमु (रुधिर) रक्तमु (पल) मासमु (अस्थि) येलुवु (स्नायु) नरमु (शुक्र) अन्त्यधातुमु (प्रमेद) पेर्च्चिद नेणमु (प्रचुरतर) पेर्च्चिद (समीर) वातव्याधियु (श्लेष्म) श्लेष्मव्याधियु (पित्तादि) पैत्त्यमोदलाद-दोषगळि (पूर्णे) तीविद (तननरककुटीरे) शरीराभिधान-नरक-गृहदोळ् (वासत) इर्प्पुदक्के (ते) निनगे (घृणा चेत्) पेसुगेयुट-वकुमप्पडे (हृदयकमलगर्भे) अष्टदल-पद्माकारहृदयकमलदोळ् (स्वम्) आमूर्तनु चिन्मयनुमप्प निन्न (चिन्तय) चितिसु (परोऽसि) सिद्धरवोलुत्कृष्टनप्प।

भावार्थ—निश्चयजपात्मकाराधने नि शरीरत्वम माळ्कुमेबुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—अनाहृत-आराधना का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय——रस-रुधिर-पल-अस्थि-स्नायु-शुक्र-प्रमेद-प्रचुरतर-समीर-श्लेष्म-पित्तादिपूर्णे=(शरीरस्थ) धातु विशेष—खून-मॉस-हड्डी-नसे/नाडियाँ-वीर्य-चर्बी एव अत्यधिक वायुविकार-कफ-पित्त इत्यादि से परिपूर्ण, तन-नरककुटीरे=शरीररूपी नरक-भवन मे, वासत =रहने से, चेत्=यदि, ते=तुम्हे, घृणा=घृणा है (तो), हृदय-कमलगर्भे=हृदय-कमल के अन्दर, स्वम्=अपने को, 'परोऽसि'=तुम अत्यन्त उत्कृष्ट (परमात्मा) हो (—ऐसा), चितय=चितन करो।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—रस, रक्त, मास, हड्डी, नाड़ी (नसे), अन्त्यधातु (वीर्य), अत्यधिक चर्बी, अत्यधिक वायुविकार, श्लेष्म व्याधि, पित्त आदि दोषो से परिपूर्ण (इस) शरीर नामक नरकगृह मे रहते हुए तुम्हारे लिए यदि घृणा होती है, तो अष्टदल कमल के आकारवाले हृदयकमल मे इस साक्षात् चिन्मयरूप निजस्वरूप का

चिन्तन करो। (कैसा ?) सिद्धो के समान उत्कृष्ट स्वरूप का (चिंतन करो)।

भावार्थ—निश्चयजपात्मक आत्माराधना (तुम्हे) निःशरीरीपने को (प्राप्त) करायेगी, ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—योगसाधना के क्षेत्र मे अग्रसर होने के लिए साधक को दो प्रकार की भावनाओ में दृढ़ता परमावश्यक है, एक तो देह व अनात्म पदार्थों में पार्थक्य की भावना अर्थात् भेद-विज्ञान, और दूसरी निश्चय दृष्ट्या परमात्मा से अपने ऐक्य या सादृश्य की भावना। (द्र. ज्ञानार्णव 29/42-59, 80-99, तत्त्वानुशासन, 159; समयसार, 186-189 व आत्मख्याति टीका, पद्मनन्दि पंचविंशति 11/22,36,45)। जिस व्यक्ति को आत्मा-अनात्मा का भेद ज्ञात नही है, और जो अनात्म पदार्थों को 'आत्मीय' समझता है, वह अज्ञानी 'बहिरात्मा' योगसाधना का अधिकारी नही है। (द्र. ज्ञानार्णव, 29/6-21;इष्टोपदेश, 8, समय-सार, 96, योगसार, 10 तथा योगसारप्राभृत, 3/18-20)।

साधना का अधिकारी तो वह 'अन्तरात्मा' है जिसे अनात्म पदार्थों के प्रति अन्यत्व का बोध है, फलत उनसे वह विरक्त भी रहता है (द्र. इष्टोपदेश, 37-42)। उक्त अन्तरात्मा को आचार्य योगीन्दुदेव ने 'पंडित' विशेषण से सम्बोधित किया है (द्र योगसार, 8)।

अनात्म पदार्थों मे सर्वाधिक ममत्व व्यक्ति को शरीर के प्रति होता है। अत अशुचि भावना (अनुप्रेक्षा) के द्वारा उसके अशुचित्व को बता-कर उससे जीव को विरक्त कराने का यत्न किया जाता है। इसके होने पर ही जीव निश्चयरीत्या वर्णित आत्म-परमात्म-ऐक्य को आत्मसात् करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है। उक्तविध अध्यात्म चिंतन के अति-रिक्त मोक्ष-प्राप्ति का अन्य कोई सदुपाय नही है (द्र योगसारप्राभृत, 7/38-40)। अत. निजात्मा को शुद्ध परमात्मा के रूप में ध्येय बनाना चाहिए इसी तथ्य की ओर आचार्य योगीन्दुदेव ने यहाँ सकेत किया है।

'योगसार' मे भी साधक को देह-पार्थक्य की भावना (द्र 38, 55, 58, 61, 95) तथा आत्म-परमात्म-सादृश्यादि की भावना (द्र. 6, 8, 20, 22, 26, 59, 64, 75, 104-106) की उपादेयता योगीन्दुदेव ने प्रतिपादित की है।

उत्थानिका—मत्तमद व्यक्तं माडिदपरू—

> **अजममरममेयं ज्ञानदृग्वीर्यशर्मा-**
> **स्पदमविपदमिष्टं स्वस्वरूपं यदि त्वम्।**
> **कुरु हृदयनभोऽन्त मानसं निर्विकल्पम्,**
> **वपुषि विषमरोगे नश्वरे मा रमस्व ॥43॥**

टीका--(अजम्) निश्चयनयदिनुत्पत्तिरहितमु (अमरम्) विनाश-रहितमु (अमेयम्) इन्द्रियज्ञानाऽग्राह्यमु (ज्ञानदृग्वीर्यशर्मास्पदम्) अनतज्ञानानतदर्शनानतवीर्यमनन्तसुखास्पदमु (अविपदम्) विपद्-विवर्जितमु (इष्टम्) गणधर-योगीन्द्रेष्टमुमप्प (यत्) आवुदोन्दु (स्वस्वरूपम्) निजपरमात्मरूपम (त्वम्) इन्तुटु (हृदयनभोऽन्त मान-सम्) हृत्कमलाकारात्मिकप्रदेशानाहत-गगनदोळडगिदमनमनुळ्-ळुदागि (निर्विकल्पम्) ध्यान-ध्येय-विकल्पातीतत्वमेन्तक्कुमन्ते (कुरु) माडु (विषमरोगे) पञ्चकोटि-अष्टषष्टिलक्ष-नवनवतिसहस्र-चतुरशीत्युत्तरपचशतविषमरोगोपेतमु (नश्वरे) विनश्वरमुमप्प (वपुषि) शरीरदोळु (मा रमस्व) रमियिसिदिरु।

भावार्थ—शरीरदतिनवशतशरीरम माळ्कुमनाहतरति नि-शरीरम माळ्कुमेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका--पुन उसी अभिप्राय को व्यक्त करते है---

खण्डान्वय—अजम्=जो अजन्मा/अनादि है, अमरम्=अमर/अनन्त है, अमेयम्=(क्षयोपशम ज्ञान की सीमा में आबद्ध न होने से) जो अमेय है, ज्ञान-दृग्वीर्य-शर्मास्पद=जो ज्ञान-दर्शन-बल और सुख का स्थान है, अविपदम्=विपदा रहित है, इष्टम्=इष्ट है, (ऐसे) स्वस्व-रूपम्=अपने स्वरूप को, यदि त्वम्=यदि तुम (चाहते हो, तो), हृदय-नभोऽन्त =हृदयाकाश के मध्य, मानसम्=मन/उपयोग को, निर्वि-कल्पम्=विकल्प रहित, कुरु=करो। (तथा) विषमरोगे=अत्यन्त भयकर रोगो वाले, नश्वरे वपुषि=(इस) नश्वर शरीर मे, मा रमस्व=रमण मत करो।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—निश्चय नय से जो उत्पत्ति-रहित है,

विनाश-रहित है, इन्द्रिय-ज्ञान से ग्राह्य नही है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख का स्थान है, विपत्तियों से रहित है (तथा) गणधरो व योगीन्द्रों को भी इष्ट है (ऐसा) जो निज परमात्म स्वरूप है, उसको इस प्रकार हृदय-कमल के आकार रूप आत्मप्रदेशात्मक अनाहत गगन के मध्य मे छिपाए हुए मन वाला होकर ध्यान और ध्येय के विकल्पों से अतीतरूप जैसा (ध्यान) हो सके, वैसा करो। (तथा) पाँच करोड अडसठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी भयकर रोगो से युक्त इस विनश्वर शरीर मे रमण मत करो।

भावार्थ—शरीर के प्रति ममत्व सैकडो नये शरीरो को प्राप्त करायेगा (अर्थात् अनन्त जन्म-मरण का कारण होगा) तथा जो इस शरीर के प्रति राग छोड़ देगा, वह अनाहत शरीर हो जायेगा—यह अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आ. योगीन्दुदेव ने ध्येयरूप आत्मतत्त्व के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए साधक को प्रेरित किया है कि वह अपने नश्वर शरीर व तद्विषयक भोगो के प्रति ममता व रमणता का त्याग कर निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

आचार्य योगीन्दु ने साधक के लिए यहाँ एक मूलसूत्र उपस्थापित किया है। यह मूलसूत्र साधना के रहस्य को अपने मे समाहित किये हुए है। इसी सूत्र की पुनरावृत्ति प्रस्तुत ग्रन्थ के 63वे पद्य में दृष्टिगोचर होती है। तदनुसार आत्मानुष्ठान करने से तथा व्यवहार से विमुख होने से परमानन्द का मार्ग प्रशस्त होना है (इष्टोपदेश, 47) और ये दोनो कार्य विषय-विरक्ति के बिना सभव नही है। विषयो से विरक्ति ज्यो-ज्यों बढती जाती है, त्यो-त्यो परमात्म-तत्त्व के सवेदन की निकटता व स्पष्टता होती जाती है (इष्टोपदेश, 37-38) और निर्विकल्पता की स्थिति के मार्ग में बढने वाले साधक के कर्मों की निर्जरा भी उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है (योगसारप्राभृत, 6/19)। निर्विकल्पता की प्रेरणा योगीन्दुदेव ने 'योगसार' में भी दी है (97, 22)।

आत्मरमणता वाला साधक ही सम्यग्दृष्टि होता है (योगसार-87) अत कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने भी आत्मा मे ही विचरण की प्रेरणा अनेकत्र दी है (द्र समयसार, 142, 206, पद्मनंदि पचविंशति., 3/54)।

उत्थानिका—मतमपरानाहतवेदनिरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

अपरमपि विधानं धामकामाधिकानाम्,
धुतविधुरविधान धर्मतो लभ्यते यत्।
तदहमिह समन्तादंहसां मुक्तये ते,
हितपथ - पथिकेदं क्षिप्रमावेदयामि ।।44।।

टीका—(धामकामाधिकानाम्) स्वरूपानुष्ठानाभिलाषोत्कृष्टर्गे (धुतविधुरविधानम्) निराकृतससारक्लेशप्रकारमनुळ्ळ (अपरमपि विधानम्) मत्तोन्दनाहतानुष्ठान-विधान (धर्मतः) परमजिनप्रणीत-धर्मदत्तणि (लभ्यते) पडेयल्पडुगु (यत्) आवुदोदु कारणदि (तत्) अदु कारर्णादि (अहम्) श्रीयोगीन्द्रदेवनप्पानु (इह) ई ग्रन्थदोळ् (समन्तात्) सुत्तणि (अहसाम्) सकलकर्मगळ् (मुक्तये) विडुवकारणमागि (ते) निनगे (हितपथपथिक) एले सन्मार्गवर्ति प्रभाकरभट्ट ! (इदम्) ई नादानाहतोपदेशम (क्षिप्रम्) शीघ्र (आवेदयामि) सोपदेशमागि पेळ्-दपरु, केळु ।

भावार्थ—नादानाहतोपदेशमं पडेवुदरिदेबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—पुन अन्य अनाहतवेद का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत पद्य है—

खण्डान्वय—धामकामाधिकानाम्—(मुक्ति-) धाम की अत्यधिक अभिलाषा वाले साधको के लिए, अपर विधानम्=एक अन्य विधि। विधान को, यत्=जो कि, धुतविधुरविधानम्=तुच्छ विधि-विधानो को प्रकम्पित (महत्त्वहीन) करने वाला है, (तथा) धर्मत लभ्यते=(जो) धर्मानुष्ठान द्वारा उपलब्ध/सम्पन्न होता है, तद् अपि=उसे भी, अहम्=मैं, हितपथपथिक !=हे आत्म-हित-साधना के पथिक !, ते=तुम्हारे, अहसाम्=कर्मों की, क्षिप्रं समन्ताद् मुक्तये=शीघ्र व समग्र रूप से मुक्ति के लिए, इह=प्रस्तुत संदर्भ मे, इदम् आवेदयामि=यह कथन करता हूँ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—स्वरूप के अनुष्ठान की अभिलाषा के उत्कर्ष के लिए, जिसने संसार के दु खो के प्रकारो का निराकरण कर

दिया है, ऐसे अन्य एक अनाहृत अनुष्ठान के विधान को परम जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत/प्रतिपादित धर्म के द्वारा प्राप्त करते हैं जिस कारण से, उस कारण से मैं योगीन्द्रदेव इस ग्रन्थ में सर्वत: समस्त कर्मों को छोड़ने हेतु तुम्हारे लिए हे सन्मार्गवर्ति प्रभाकर भट्ट ! इस नादानाहृत उपदेश को शीघ्र ही उपदेशक होकर कहता हूँ, सुनो !

भावार्थ—नादानाहृत उपदेश को ग्रहण करके समझना चाहिए—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में आचार्य योगीन्दुदेव ने 'अनाहतनाद' के निरूपण से पूर्व अवस्था की भूमिका प्रस्तुत की है।

आचार्य शुभचन्द्र ने 'अनाहत' की महिमा व्यक्त करते हुए 'अनाहत से युक्त तत्त्व को मन्त्रराज' कहा है (द्र० ज्ञानार्णव 35/8) तथा 'अनाहत नामक देव के दिव्य रूप का चिन्तन करने की प्रेरणा' दी है (वही, 35/25)। अनाहत के स्वरूप के बारे मे तथा फल आदि के बारे में आगे योगीन्दुदेव ने विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

किन्तु एक तथ्य ध्यातव्य है कि इस समस्त विवेचन को योगीन्दु ने 'व्यवहार धर्मध्यान' संज्ञा दी है तथा उसे निश्चय धर्मध्यान की पीठिका रूप बतलाया है। साथ ही इसके बारे मे गुरु-आज्ञा व उपदेश को प्रमुखता देने का निर्देश भी उन्होंने किया है।

उत्थानिका—नादानाहताराधना-विधान-तत्फलनिरूपणार्थमुत्तर-वृत्तावतारम्—

श्रवणयुगलमूलाकाशमासाद्य सद्यः,
स्वपिहि पिहितमुक्तस्वान्तसद्द्वारसारे।
विलसदमलयोगानल्पतल्पे ततस्त्वम्,
स्फुरितसकलतत्त्व श्रोष्यसि स्वस्य नादम् ॥45॥

टीका—(श्रवणयुगलमूलाकाशम्) श्रोत्रद्वयमूलगगनम (आसाद्य) गुरूपदेशदिं पोर्दि (सद्य) आगळे (पिहितमुक्त) अनादियिं मुच्चितेरे-येपट्ट (स्वान्त) निजांतरगमनुळ्ळ (सद्द्वारसारे) रमणीयद्वारदि सारमप्प (विलसद्) ओप्पुव (अमलयोगानल्पतल्पे) विमलपरमसमाधि-विशालतल्पदोळ् (स्वपिहि) योगनिद्रेय माडु। (तत) योगनिद्रानन्तर (त्वम्) नीम (स्फुरितसकलतत्त्वम्) प्रकटीकृत निखिल-वस्तुस्वरूपमप्प (स्वस्य नादम्) दिव्यध्वनि-हेतुभूत स्वकीयनादम (श्रोष्यसि) केळ्वे।

भावार्थ—श्रवणयुगलमूलाकाशदोळ् मर्नंनिदोडे दिव्यनादाकर्ण-नमक्कुमेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—अनाहत-नाद की आराधना के विधान और उसके फल का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय--श्रवणयुगलमूलाकाशम्=कर्णेन्द्रिययुगल के मूल आकाश को, आसाद्य=प्राप्त करके, सद्य=शीघ्र ही, पिहितमुक्तस्वान्तसद्द्वार-सारे=आवृत (होते हुए भी) अनावृत/मुक्त निज अन्त करण के सार-भूत द्वार मे, विलसद् अमलयोगानल्पतल्पे=सुशोभित निर्मल योगरूपी विस्तीर्ण शय्या पर, स्वपिहि=विश्राम करो। तत=उससे, त्वम्=तुम, स्फुरितसकलतत्त्वम्=समस्त तत्त्वो को स्फुरित/प्रकटित करने वाले, स्वस्य नादम्=अपने नाद को, श्रोष्यसि=सुन सकोगे।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—दोनो कर्णो के मूल (मे स्थित) आकाश को गुरु के उपदेश के द्वारा प्राप्त करके उसी समय अनादिकाल से (कर्मावरण से) ढँका होकर भी (निवारण स्वभावी होने से) खुले हुए अपने अतरग मे रमणीय द्वार से साररूप मे शोभायमान विमल परम

समाधिरूपी विशाल शय्या/तल्प पर योगनिद्रा को (प्राप्त) करो। (उस) योगनिद्रा के बाद तुम प्रकटीकृत सम्पूर्ण वस्तुओं के स्वरूप वाले, दिव्य ध्वनि के हेतुभूत स्वकीय नाद को सुन सकोगे।

भावार्थ—श्रवण-युगल के मूलाकाश में अगर मन स्थिर रहेगा, तो दिव्यध्वनि का श्रवण होगा—ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—यहाँ अनाहत नाद की आराधना की विधि प्रथमतः प्ररूपित की है तथा उसके फलस्वरूप सर्वज्ञत्व व दिव्यध्वनि के कारणभूत स्वकीय नाद का श्रवण होना बताया है।

यहाँ यह तथ्य विशेषत मननीय है कि आत्मतत्त्व मूलतः निरावरण-स्वभावी होने से वर्तमान अवस्था मे कर्मावरण से आच्छादित होने पर भी उसका शुद्ध व निष्कर्म स्वरूप अनुभवगोचर हो सकता है। समस्त सिद्धान्त व अध्यात्म ग्रन्थो से समर्थित यह तथ्य साधक को नि शक होकर शुद्धस्वभाव की अनुभूति के लिए नवीन स्फूर्ति प्रदान करता है।

उत्थानिका—नादोत्पत्तिकाल-नादभेद-निरूपणार्थमुत्तरवृत्ता-वतारम्—

> **शशधर - हुतभोजि - द्वादशार्द्ध - द्विषट्क-**
> **प्रमितविदितमासै स्वस्वरूपप्रदर्शी ।**
> **मदकल परपुष्टाम्भोद - नद्याम्बुराशि-**
> **ध्वनिसदृश-रवत्वाज्जायतेऽसौ चतुर्धा ॥46॥**

टीका—(शशधरप्रमित) एकसख्याप्रमाणमु (हुतभोजिप्रमित) त्रिसख्याप्रमाणमु (द्वादशार्द्ध -प्रमित) षट्संख्याप्रमाणमु (द्विषट्क-प्रमित) द्वादशसख्याप्रमाणमुमप्प (विदितमासै) प्रसिद्धमासगळि (स्व-स्वरूपप्रदर्शी) निजस्वरूपम तोरुवदागि (मदकल-परपुष्ट) माकन्द-कलिकास्वादमत्तकोकिलद (अम्भोद)-घनसमयजीमूतद(नदी) पूर्णस्रोत-स्विनीय (अम्बुराशि) महासमुद्रद (ध्वनिसदृशरवत्वात्) मनोहरनाद-समानध्वनियनुळ्ळुदरत्तणि (असौ) ई नाद (चतुर्धा) नाल्कुतेरा (जायते) अक्कु ।

भावार्थ—एकमासानुष्ठानदि कोकिलनाद, त्रिमासानुष्ठानदि मेघनाद, षण्मासानुष्ठानदि नदीघोष, द्वादशमासानुष्ठानदि समुद्रघोष पुट्टुगुमेबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—नाद की उत्पत्ति के काल का तथा नाद के भेदो का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत पद्य है—

खण्डान्वय—शशधर-हुतभोजि-द्वादशार्द्ध-द्विषट्क-प्रमितविदित-मासै =एक, तीन, छह और बारह सख्या वाले प्रसिद्ध महीनो मे, स्वस्वरूपप्रदर्शी=निज-आत्मस्वरूप का प्रदर्शक (नाद श्रवणगोचर होता है, जो कि), मदकलपरपुष्ट-अम्भोद-नदी-अम्बुराशि-ध्वनि-सदृशरवत्वात्=मदमत्त कोयल, बादल, नदी व समुद्र —इनकी (क्रमश. चतुर्विध) ध्वनियो से समानता रखने के कारण, असौ=यह (अनाहत नाद), चतुर्धा=चार प्रकार का होता है ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—एक सख्या प्रमाण, तीन सख्या प्रमाण, छह सख्या प्रमाण और बारह संख्या प्रमाण प्रसिद्ध महीनो से निज

स्वरूप को दिखाने वाले (क्रमश:) माकन्द की कली के मधु-आस्वाद से उन्मत्त कोयल के, वर्षाकालीन सजल बादल के, (भरी हुई) पूर्ण जल-वाहिनी नदी के तथा महासमुद्र के कर्णमधुर नाद के समान ध्वनिवाला होने से यह नाद चार प्रकार का होता है।

भावार्थ—एक महीने के अनुष्ठान से कोकिल-नाद (श्रुतिगोचर) होता है। तीन महीनो के अनुष्ठान से मेघसदृश नाद होता है। छह महीनो के अनुष्ठान से नदी-घोष (नाद) होता है और बारह महीनों के अनुष्ठान से समुद्र-घोष (नाद) उत्पन्न हो जायेगा—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—योग साधना के ग्रन्थो में ध्यान-प्रक्रिया के अन्तर्गत अनाहत नाद के श्रवण व उसके विभिन्न स्तरों का निरूपण आता है। जैन योग-साधनापरक ग्रन्थो मे उपर्युक्त प्रकार से विवेचन प्रायः अनुपलब्ध है। अत यह विवेचन विशेषत मननीय है।

इसमे आचार्य योगीन्दुदेव ने अनाहत नाद के चार भेद—1 कोकिल-नाद, 2 मेघनाद, 3, नदीघोषनाद तथा 4 समुद्रघोषनाद बताये है तथा उनकी उत्पत्ति के लिए साधना काल-मान भी प्ररूपित किया है।

उत्थानिका— नादोत्पत्ति-स्थान-निरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

श्रवणयुगलमध्ये मस्तके वक्षसि स्वे,
भवति भवनमेषां भाषितानां त्रयाणाम् ।
विपुलफलमिहैवोत्पद्यते यच्च तेभ्य.,
तदपि श्रृणु मया त्वं कथ्यमानं हि तथ्यम् ।।47।।

टीका—(श्रवणयुगलमध्ये) श्रोत्रयुगलमध्यदोळ् (मस्तके) उत्तमागदोळ (स्वे वक्षसि) निजवक्षस्थलदोळ् (एषाम्) ई (भाषितानाम्) निरूपिसेपट्टे (त्रयाणाम्) मूरर (भवनम्) निलय (भवति) अक्कु। (तेभ्य) अवरत्तणि (यच्च) आवुदोदु (विपुलफलम्) पिरिदप्प फल (इहैव) इल्लि (उत्पद्यते) पुट्टुगु (तदपि) अद मत्ते (मया) येन्निद (इत्थम्) इंतु (कथ्यमानम्) मुदणसूत्रदि निरूपिमे पडुत्तमिरदुदं (हि) नेट्टने (तथ्यम्) सत्यमेदु (श्रृणु) केळु ।

भावार्थ—नादानाहताराधनये नैहिकदोळ किरिदु फलमक्कुमेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—नाद की उत्पत्ति का स्थान बतलाने के लिए प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय—श्रवणयुगलमध्ये = दोनो कानो के बीच मे, मस्तके = मस्तक मे, स्वे वक्षसि = अपने वक्ष स्थल मे, एषा त्रयाणा भाषिताना = इन तीनो ध्वनियो (कर्णस्थ, मस्तकस्थ, वक्ष स्थ) का, भवनम् भवति = निवास है । तेभ्य एव = उनसे ही, यत् विपुलफल च = जो विपुल फल भी, उत्पद्यते = प्राप्त होना है, तदपि = उसे भी, त्वम् = तुम, मया कथ्यमान तथ्यम् = मेरे द्वारा कथ्यमान तथ्य के रूप मे, श्रृणु = सुनो ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—श्रोत्रयुगल के मध्य मे, उत्तमाग (मस्तक) मे, अपने वक्ष स्थल मे, इन कही गयी तीनो (ध्वनियो) का निवास होता है । इनसे जो अत्यधिक फल यही पर प्राप्त होता है, वह भी मेरे द्वारा अगले सूत्र में कथ्यमान वस्तु ही वास्तव में सत्य है—ऐसा सुनो ।

भावार्थ—अनाहत नाद की आराधना ही इस ससार में अनल्प (प्रचुर) फल को देने वाली होती है—ऐसा तात्पर्य है ।

विशेष—पिछले छन्द में अनाहत नाद के स्वरूपगत चार भेदो का कथन किया था । यहाँ उत्पत्ति-स्थान के आधार पर इस नाद के तीन भेद बताये हैं ।

उत्थानिका – तत्फल-प्रकटनार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

भ्रमरसदृशकेशं मस्तकं दूरदृष्टि,
वपुरजरमरोगं मूलनादप्रसिद्धे ।
अणु-लघु-महिमाद्या सिद्धय. स्युर्द्वितीयात्,
सुर-नर-खचरेशां सम्पदश्चान्यभेदात् ।।48।।

टीका—(मूलनादप्रसिद्धे) मदकलपरपुष्टाभिधानमूलनादप्रसिद्धि-यत्तणि (मस्तकम्) शीर्ष (भ्रमरसदृशकेशम्) पलितमादोड भ्रमरसदृश-केशमक्कु (दूरदृष्टि) मन्दलोचन-मादोडं दूरावलोकनमवकु (वपु) शरीर (अजरमरोगम्) जरा-रुजा-वृत्तमादोडमजरत्वमुमरोगमक्कु (द्वितीयात्) अम्भोदनाद-सिद्धियत्तणि (अणु-लघु-महिमाद्या सिद्धय) अणु-लघु-महिमाद्यष्टमहासिद्धिदोळ् सुसिद्धिगळ् (स्यु) अप्पवु। (सुर-नर-खचरेशाम्) सुर-नर-खचरेन्द्रर (सम्पद) संपत्तिगळ् (च) मत्ते (अन्यभेदात्) नदीनाददत्तणिनक्कुमेंदरिवुदु।

उत्थानिका - उस अनाहत नाद) का फल बतलाने के लिए प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय—मूलनादप्रसिद्धे =मूल (अनाहत) नाद (कोकिल नाद) की उत्कृष्ट-सिद्धि प्राप्त होने से, मस्तकम्=मस्तक, भ्रमरसदृश-केशम्=भौरो के समान (काले व स्निग्ध) बालो वाला (हो जाता है)। दूरदृष्टि =दूर तक देखने मे समर्थ आँखे हो जाती है, वपु =शरीर, अजरम्=वृद्धावस्था-रहित, (तथा) अरोगम्=रोग-रहित हो जाता है। द्वितीयात्=द्वितीय (मेघसदृश नाद) से, अणु-लघु-महिमाद्या.= अणिमा-लघिमा-महिमा आदि, सिद्धय =सिद्धियाँ, स्यु =प्राप्त होती है। च=और, अन्यभेदात्=अन्य (तृतीय नदी-नाद) भेद की सिद्धि से, सुर-नर-खचरेशाम्=देव, मनुष्य व खेचरो के इन्द्रो की, सम्पद =वैभव-सम्पत्तियाँ (प्राप्त होती है)।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—मदमत्त कोकिल-नाद नामक मूलनाद की प्रसिद्धि (महिमा) से पलित अर्थात् सफेद बालो वाला मस्तक भी भ्रमर के समान केशराशि से युक्त हो जाता है (तथा) व्यक्ति मन्द-लोचन वाला होकर भी दूर तक देखने में समर्थ हो जाता है, बुढापा तथा रोग

से युक्त शरीर भी अजरत्व तथा अरोगत्व से युक्त हो जाता है। (तथा दूसरे) अम्भोद (मेघ)-नाद की सिद्धि से अणिमा-लघिमा-महिमा आदि आठ महासिद्धियो में श्रेष्ठ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। (तथा) देवेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) व खेचरेन्द्र आदि की सम्पत्तियाँ भी नदीनाद (की सिद्धि) से (प्राप्त) हो जाती है—ऐसा समझना चाहिए।

विशेष--प्रस्तुत पद्य मे आचार्य योगीन्दुदेव ने अनाहत नाद के पूर्वोक्त स्वरूपगत चार भेदो मे से तीन भेदो का फल-विशेष प्रतिपादित किया है। प्रथम कोकिल-नाद को उन्होने 'मूलनाद' कहा है, और इसके श्रवण की सामर्थ्य प्राप्त होने पर शारीरिक आरोग्य (यथा दृष्टि-सामर्थ्य बढना आदि) व सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। द्वितीय 'मेघ-ध्वनि' नामक अनाहत नाद के श्रवण की योग्यता जब प्राप्त होती है, तब अनेक सिद्धियो (अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व आदि) की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञातव्य है कि उक्त अणिमा आदि सिद्धियो की परिगणना जैन शास्त्रो मे विक्रिया-ऋद्धियो के अन्तर्गत की गई है (तिलोयपण्णत्ति-4/1024-25, 1033 तथा धवला, 9/4,1,15/75-76, चारित्रसार, 219)। 'नदी-ध्वनि' नामक तृतीय नाद को श्रवण कर पाने की योग्यता आ जाने पर साधक देवेन्द्र, मनुष्येन्द्र व खेचरेन्द्र—तीनों की विभूतियो का स्वामी हो जाता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि साधना/तपस्या के फलस्वरूप ऋद्धि-सिद्धियो की प्राप्ति होना अवश्य यहाँ फलरूप मे प्रदर्शित किया गया है, किन्तु किसी भी प्रकार की भौतिक या पररूप सिद्धि की प्राप्ति के लिए साधकजन योग/ध्यान की साधना मे कभी प्रवृत्त नही होते है। उनका लक्ष्य तो निर्विकल्प व अखण्ड-अनन्त आनन्दमय समाधि दशा की निश्चल-प्राप्ति होता है। ऐसे साधक को ही सिद्धियो की प्राप्ति स्वत हो जाती है(ज्ञानार्णव 37/12)। आचार्य शुभचन्द्र ने भी ध्यान में प्रवृत्त साधक के बाह्य सूचक-चिह्नो का कथन करते हुए उसे नीरोगता, शारीरिक दीप्ति, स्वर-माधुर्य, शरीर का उत्तम गन्ध से युक्त होना आदि की उपलब्धि होना बताया है (द्र ज्ञानार्णव 38/1, 13)। किन्तु वास्तविक योगीजन इन सिद्धियो के प्रति आकृष्ट न होकर अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ते रहते हैं।

उत्थानिका—समुद्रघोषोत्पत्तिस्थाननिरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

कर-शिरसि नितम्बे नाभिबिम्बे च कर्णे,
प्रभवति घनघोषाम्भोनिधेर्घोषतुल्य ।
विघटयति कपाट-द्वन्द्वमद्वन्द्वसिद्धा-
स्पद-घटितमघौघ-ध्वंसकोऽयं चतुर्थ ॥49॥

टीका—(करशिरसि) कराग्रदोळ (नितम्बे) नितम्बस्थलदोळं (नाभिबिम्बे) नाभिमण्डलदोळ (च) मत्ते (कर्णे) कर्णयुगलमध्यदोळं (अम्भोनिधे.) समुद्रद (घोषतुल्य·) निनाद-समानमप्प (घनघोष) वृहद्-घोष (प्रभवति) लेसागिपट्टुगु (अयम्) प्रत्यक्षमप्प (चतुर्थ) समुद्र-घोषाभिधानचतुर्थनिनाद (अद्वन्द्वसिद्धास्पदघटितम्) अद्वैत-मि श्रेयस-द्वारसघटितमप्प (कपाटद्वन्द्वम्) शुभाशुभकर्माभिधान-निविडवज्र-कवाटयुगलम (विघटयति) बलिप नूकि तेरेगु (अघौघध्वसक) निखिल-कर्मनिचयध्वसकमुमक्कु ।

भावार्थ—केवलज्ञानोत्पत्तिसमयदोळमनीहितवृत्तिये ध्वनिविशेषंगळिळ्ळमक्कुमेंबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—समुद्रघोष (नामक चतुर्थनाद) की उत्पत्ति का स्थान बतलाने के लिए प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय—अय चतुर्थ =यह चौथा (समुद्रघोष नामक नाद) कर-शिरसि=हाथ के अग्रभाग (हथेली) मे, नितम्बे=नितम्ब स्थल में, नाभिबिम्बे=नाभि प्रदेश मे, च=और, कर्णे=कानो मे, प्रभवति= उत्पन्न होता है। घनघोषाम्भोनिधे घोषतुल्य =महान् घोष (ध्वनि) वाले समुद्र की गर्जनात्मक ध्वनि से समानता रखने वाला होता है। (तथा) अघौघध्वसक·=पापो के समूह का विनाशक (होता हुआ), अद्वन्द्वसिद्धास्पदघटितम्=अद्वैत/अद्वितीय मुक्ति-धाम में लगे हुए, कपाटद्वन्द्वम्=(शुभाशुभकर्म रूप) दोनो द्वारो को, विघटयति=उद्-घाटित कर देता है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—हाथ के अग्रभाग (हथेली) में, नितम्ब-स्थल में, नाभिमण्डल में और कर्णयुगल के मध्य में समुद्र के निनाद के समान वृहद्घोष भलीभाँति उत्पन्न होता है; यह प्रत्यक्षभूत समुद्र-

घोष नाम का चौथा निनाद अद्वैत निश्रेयस् (मोक्ष) के द्वार को सघटित करने वाले (अवरुद्ध करने वाले) शुभ और अशुभ कर्म नामक अत्यन्त मजबूत वज्रमय दो कपाटो को जोर से धकेलकर नष्ट करता है (और) सम्पूर्ण कर्मो के समूह का ध्वस (विनाश) करने वाला होता है।

भावार्थ—केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय मे अनीहित (नि.काक्षित) वृत्ति ही ध्वनि-विशेषो मे प्रकट होती है—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे अनाहतनाद के चतुर्थ स्वरूपभेद 'समुद्र-घोष' के उत्पत्ति-स्थान का निरूपण करते हुए उसके महनीय फल का वर्णन किया है।

जैन अध्यात्म साधना में गुणस्थानो के माध्यम से परमात्म-दशा की प्राप्ति का निरूपण किया जाता है। वहाँ प्रस्तुत 'अनाहतनाद' का कोई उल्लेख प्राप्त नही होता है। टीकाकार ने अन्य योग-साधनाओ व जैन अध्यात्म-साधना का तुलनात्मक समन्वय या उनका जैन रीत्या विवेचन किया है। उनके मत में यह चतुर्थ अनाहत-नाद वह दिव्य ध्वनि है, जो केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर प्रकट होती है, केवली (सर्वज्ञ योगी) को इसे प्रवर्तमान रखने के लिए कोई ईहा—इच्छा या चेष्टा नही करनी पडती है (द्र जिनसहस्रनाम टीका, पृ 168, रत्न-करण्ड श्रावकाचार-8)। आचार्य योगीन्दुदेव के अन्य ग्रन्थ 'परमात्म प्रकाश' के सस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव ने भी इस सम्बन्ध मे कुछ विचार रखे हैं। उनके अनुसार सामान्यत श्वासोच्छ्वास (प्राणवायु) नासा-रन्ध्रो से प्रवाहित होती है, और प्राणायाम आदि के द्वारा इसे स्थिर भी किया जा सकता है, किन्तु ऐसी स्थिरता इच्छा व यत्नपूर्वक ही होती है। परन्तु शुद्धोपयोगी सयमी योगियो के श्वास व मन—दोनो ही सहजपने मे वशीभूत व स्थिर हो जाते है। शुद्धोपयोगी मुनि के परम समाधि-अवस्था मे श्वासोच्छ्वास रूपी वायु नासिका-द्वार को छोड-कर ब्रह्मरन्ध्र रूपी दसवे द्वार से अनीहितवृत्तिपूर्वक—स्वत निकलने लगती है, और मन निर्विकल्पता के कारण शून्य/स्थिर हो जाता है (द्र परमात्मप्रकाश-टीका गा 2/162-163)। यही वह स्थिति है, जब मोह का सर्वथा नाश होकर 'केवलज्ञान' प्रकट होता है (द्र. वही 2/163)। यह योगी समस्त शुभाशुभ भावो से पार को प्राप्त निष्कलक वीतराग होता है। ऐसे योगी की प्रशसा करते हुए आचार्य योगीन्दुदेव ने कहा है कि "मैं उस योगी की बलिहारी जाता हूँ" (द्रष्टव्य, परमात्म प्रकाश, 2/160)।

उत्थानिका—नादाकर्णनदि विस्मयं बेडेंदु पेळ्दपरु—

प्रकटित-निजरूपं घोषमाकर्ण्य रम्यम्,
परिहरतु नितान्तं विस्मयं हे यतीश !
कुरुत कुरुत यूयं योगयुक्तं स्वचित्तम्,
तृणजललवतुल्यैः किं फलैः क्षौद्रसिद्ध्यै ॥50॥

टीका—(रम्यम्) रमणीयमु (प्रकटितनिजरूपम्) प्रकटीकृतस्वरूप-मुमप्प (घोषम्) दिव्यनादम (आकर्ण्य) केळदु (विस्मयम्) सोद्यम (परिहरतु) बिट्टु कळेयेम। (हे यतीश !) एले प्रधानरिरा ! (यूयम्) नीवु (योगयुक्तम्) निजनिरजन-परमात्म-ध्यानोपेतमागि (स्वचित्तम्) निजचित्तम (कुरुत कुरुत) मत्ते निसदे माडि-माडि। (तृणजललवतुल्यै) तृणानुजललव-समानगळु (क्षौद्रसिद्ध्यै) क्षौद्रसिद्धगळुमप्प (फलै) फलगळि (किम्) एनेबुदे तात्पर्यम्।

उत्थानिका—नाद को सुनने से आश्चर्य नही करना चाहिए, यह बतलाते है।

खण्डान्वय—हे यतीश !=हे मुनीश्वर ! प्रकटित-निजरूपम्= निजशुद्धात्मस्वरूप को प्रकट करने वाले, रम्य घोषम्=रमणीय नाद को, आकर्ण्य=सुनकर, नितान्त विस्मयम्=अत्यधिक आश्चर्य करना, परिहरतु=छोड दो। यूयम्=तुम, स्वचित्तम्=अपने को, योगयुक्तं कुरुत कुरुत=योग/समाधि की साधना मे (ही) दत्तचित्त किये रहो, किये रहो। तृणजललवतुल्यै=तृण (के अग्रभाग पर स्थित) जलबिन्दु के समान(नश्वर), क्षौद्रसिद्ध्यै फलै=तुच्छ सिद्धि रूप फलो से, किम्= क्या लाभ है ?

हिन्दी अनुवाद(टीका)—रमणीय, प्रकटीकृतस्वरूप वाले दिव्यघोष को सुनकर विस्मय करना छोड देना चाहिए। हे मुनिप्रधान ! आप निजनिरजनपरमात्मा के ध्यान से युक्त होकर अपने चित्त को बारम्बार एकाग्र करो। तिनके के अग्रभाग पर स्थित पानी की बूंद के समान क्षुद्रसिद्धियो रूपी फलो से क्या (कोई श्रेष्ठ प्रयोजन सिद्ध) हो सकेगा ? (अर्थात् कभी नही हो सकेगा)—यही तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में आचार्य योगीन्दुदेव ने अनाहद नाद की

सिद्धि होने पर साधक को प्रेरणा दी है कि वह उक्त सिद्धि के प्रति आश्चर्यचकित होकर अटक न जाये, अपितु साधना के परम लक्ष्य निर्विकल्प वीतरागशुद्धात्म स्वरूप की अखण्ड निश्चलानुभूतिरूप परम-समाधि की प्राप्ति-हेतु निरन्तर सावधान व प्रयत्नशील रहे।

आचार्य शुभचन्द्र आदि के अनुसार, सच्चा योगी वह होता है जो विषय-तृष्णा मे रहित और सासारिक काम-भोग आदि से सर्वथा निस्पृह रहता है (द्र० ज्ञानार्णव 5/10-17)। ऋद्धियो में आसक्ति होने का अर्थ है—मन मे विषय-तृष्णा का होना। किन्तु मुमुक्षु 'ससार के बीजभूत' विविध रागादिजनित सम्बन्धो मे सर्वथा निरपेक्ष व अनासक्त रहता है और स्वप्न में भी मन को विषयो मे प्रवृत्त नही करता है (द्र० ज्ञानार्णव 37/14, प्रशमरतिप्रकरण 256-.8, भावपाहुड, 129, तत्त्वानुशासन-220, राजवार्तिक 10/9/14)।

कौतूहल या विस्मय के कारण ऋद्धियो के प्रयोग व महिमा आदि के प्रदर्शन की लालसा होने पर साधक को कुध्यान होना निश्चित है, जिसके फलस्वरूप साधन लक्ष्यभ्रष्ट होकर पतन को प्राप्त हो जाता है।(ज्ञानार्णव 37/13)। वस्तुत विभूति आदि की इच्छा से रहित तप-साधना करने पर ही परमगति की प्राप्ति शीघ्र हो पाती है (योगसार, 13)। इसी दृष्टि से आचार्य योगीन्दुदेव ने अपने अन्य ग्रन्थो में भी साधक को बारम्बार यह सलाह दी है कि समस्त चिन्ताओ को छोडकर चित्त को परमपद मे लगाते हुए निज-निरजन परमात्मदेव का ध्यान करना चाहिए (परमात्मप्रकाश 1/115) तथा समस्त जगत् को दुखी करने वाले लोभ से बचना चाहिए (वही 2/113)। साथ ही उन सभी कार्यों को भी छोड देना चाहिए जिनसे कषाय-अग्नि बढने की सभावना हो और उन्ही साधनो को अगीकार करना चाहिए जिनसे कषायो का विनाश हो सके (द्र० परमात्मप्रकाश 2/42, भगवती आराधना, 262, ज्ञानार्णव 37/11)। वस्तुत आत्मस्वभाव में रमने वाला साधक ही सुखी हो पाता है (परमात्मप्रकाश 2/43)। इन्ही संदर्भों में प्रस्तुत पद्य का आशय मननीय है।

उत्थानिका—नादानाहताराधनेयि पलरु मुक्तरादरामार्गदिं नीनुमागेदु शिक्षिसिदपरु—

> **सकलदृगयमेक केवलज्ञानरूप,**
> **विदधति पदमस्मिन् साधव सिद्धिसिद्ध्यै ।**
> **तदलममुमनूनं नादमाराध्य सम्यक्,**
> **त्वमपि भव शुभात्मा सिद्धि-सीमन्तिनीश. ॥51॥**

टीका—(अयम्) ई सहजपरमपारिणामिकभावाभिधाननिश्चयानाहत (एक) अखण्डमु (सकलदृक्) सकलदर्शनमु (केवलज्ञानरूप.) केवलज्ञानरूपमुमक्कु (अस्मिन्) ई पारिणामिकभावाभिधाननिश्चयानाहतदोळु (साधव) भेदाभेदरत्नत्रयाराधकरूमप्प साधुगळु (सिद्धिसिद्ध्यै) अनन्तगुणचतुष्टयरूपनिजगुणसिद्धिनिमित्त (पदम्) निलव (विदधति) ताळदुवरु । (तत्) अदु कारणदि (अमुम्) ई प्रत्यक्षमु (अनूनम्) परिपूर्णमुमप्प (नादम्) नादानाहतम (सम्यक्) लेसागि (आराध्य) आराधिसि (शुभात्मा) कर्मक्षय-हेतुभूतविशिष्टपुण्योदयरूपनप्प (त्वमपि) एले प्रभाकरभट्ट ! नीनु (सिद्धिसीमन्तिनीश.) मुक्तिकातावल्लभनु (भव) आगु ।

भावार्थ—नादानाहताभ्यासदि परमपारिणामिकानाहतध्यानाभ्यासमक्कुमदु साक्षान्मोक्षकारण-मक्कुमेबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—अनाहतनाद की आराधना के द्वारा पलभर मे (शीघ्र ही) मुक्तिमार्ग मे तुम प्रवर्तमान हो सकोगे, ऐसा समझाते है—

खण्डान्वय—अयम् = यह, एक = एक/अखण्ड, सकलदृक् = सर्वदर्शी, केवलज्ञानरूप = केवलज्ञान रूप (जो निश्चय अनाहत है, उसमें), साधव = (रत्नत्रय के आराधक) साधुजन/साधकगण, सिद्धिसिद्ध्यै = (स्वात्मोपलब्धिरूप) सिद्धि की प्राप्ति के लिए, पद विदधति = पदार्पण करते है/अग्रसर होते है। तद् = इसलिए, अलम् = (अन्य सासारिक कार्यों को) छोडो, (और), अमुम् अनून नादम् = इस परिपूर्ण (अनाहत) नाद की, सम्यक् आराध्य = भलीभाँति आराधना करके, त्वम् अपि = (हे प्रभाकर भट्ट) तुम भी, शुभात्मा = (मुक्ति की पात्रता युक्त) शुभात्मा (होकर), सिद्धि-सीमन्तिनीश = सिद्धावस्थारूपी सुन्दरी के स्वामी, भव = हो जाओ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—यह सहज परमपारिणामिकभाव नामक निश्चय अनाहत अखण्ड, सकलदर्शन और केवलज्ञानरूप होता है। इस परमपारिणामिकभाव नामक निश्चय अनाहत में भेद और अभेद रत्नत्रय के आराधक साधुगण अनतगुणो के चतुष्टयरूपी (अनंत दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य रूपी) निजगुण-सिद्धि के लिए कदम रखते हैं। इसलिए इस प्रत्यक्ष परिपूर्ण अनाहत नाद की भली प्रकार से आराधना करके कर्मक्षय के हेतुभूत विशिष्ट पुण्योदय से युक्त होकर हे प्रभाकरभटट ! तुम भी मुक्तिरूपी काता के वल्लभ हो जाओ।

भावार्थ—अनाहतनाद के अभ्यास से परमपारिणामिक अनाहत ध्यान का अभ्यास होता है (और) वह साक्षात् मोक्ष का कारण होता है—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्य योगीन्दुदेव 'अनाहत नाद' की सिद्धि के उपरान्त साधक को अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित कर रहे है। अनाहतनाद की सिद्धि के यथार्थरूप की परिणति 'सहज परमपारिणामिकभाव' में होती है, जिसे 'निश्चय अनाहत' कहा गया है।

साधक का लक्ष्य उत्तरपुराण (50/68, 73/15) में तप पूत होकर वीतरागता की प्राप्ति एवं मुक्तिरूपी लक्ष्मी का अधिपति होना बताया गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि साधक मात्र निजशुद्धात्मद्रव्य को ही उपादेय बनाकर आगे बढे और इसकी निश्चलानुभूति प्राप्त करे। (द्र० तत्त्वसार 4/24 टीका, पद्मनंदि पच-विशति 4/75)।

'निश्चय अनाहत' की सिद्धि की स्थिति मे 'केवलज्ञान' या 'सर्वज्ञता' की सिद्धि साधक को स्वत हो जाती है, साथ ही उसे अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। इसके उपरान्त-पूर्ण मुक्तावस्था (सिद्धत्व) की प्राप्ति तो स्वत. ही कालक्रमानुसार होती ही है। इसीलिए आत्महित के साधक यतीश्वर मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति के निमित्त उक्त 'निश्चय अनाहत' की आराधना में तत्पर होते है।

उत्थानिका—ज्योतिरनाहतस्वरूपनिरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

बहिरबहिरुदार-ज्योतिरुद्भासि-दीप,
स्फुरति यदि तवाय नाभिपद्मे स्थितस्य।
अपसरति तदानीं मोहघोरान्धकार,
चरणकरणदक्षो मोक्षलक्ष्मी - दिदृक्षो ॥52॥

टीका—(मोक्षलक्ष्मीदिदृक्षो) निर्वाणलक्ष्मीयनवलोकिसल्बयसुव (नाभिपद्मे) वकाराद्यक्षर-पूर्णचतुर्दलकलितनाभिकमलदोळ् मन-मनिट्टु (स्थितस्य) ईर्द्द (तव) निनगे (चरणकरणदक्ष) निजस्वरूपा-राधनापरिणमनसमर्थमु (अयम्) स्वसंवेदनप्रत्यक्षमुमप्प (बहि) जीवादिषड्द्रव्यात्मकदोळ् (अबहि) स्वस्वरूपदोळ (उदार-ज्योति) पेर्च्चिद बेळगि (उद्भासि) ऊर्ध्वस्वरूपमागि बेळगुव (दीप:) मणिप्रदीपं (स्फुरति यदि) एल्लियानु स्फुरयिसुगुमप्पोडे (तदानीम्) आगळ् (मोह-घोरान्धकार) दर्शन-चारित्रमोहनीयाभिधानप्रवर्धनमानाधकार (अपसरति) तेरळदोडुगु।

भावार्थ— गोस्तनाकारस्थितात्मप्रदेश-नाभिकमलमध्यदोळ मनम निलिसिदोडे, रत्नप्रदीपाकारज्योतिरनाहतोदयमक्कु। तदुदयदि दुरितोपशातियु प्रकृष्टसारस्वतत्वमु कर्मनिर्जरेयुमक्कुमेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—ज्योतिरूप अनाहतस्वरूप का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय—मोक्षलक्ष्मीदिदृक्षो.=मुक्ति रूपी लक्ष्मी के दर्शनो का अभिलाषी, नाभिपद्मे स्थितस्य=नाभि-कमल में स्थित, तव= तुम्हारे, यदि=अगर, अयम्=यह, चरण-करणदक्ष =चरण (सहज-परमतत्त्व मे अविचल स्थिति) रूप करण (परिणति) मे समर्थ/निष्णात, बहि अबहि:=बाहर और अन्दर, उद्भासिदीप =प्रकाशक दीपक (के समान), उदारज्योति.=व्यापक (ज्ञान-) ज्योति, स्फुरति=प्रादुर्भूत होती है, तदानीम्=तब, मोहघोरान्धकार.=मोहरूपी घोर अन्धकार, अपसरति=विनष्ट हो जाता है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—निर्वाण रूपी लक्ष्मी के दर्शन का इच्छुक वकारादि अक्षरो से पूर्ण चार दल से युक्त नाभि-कमल मे मन को स्थिर

करके रहने वाले तुम्हारे लिए निजस्वरूप की आराधना रूप परिणमन करने में समर्थ यह स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप अत्यन्त उज्ज्वल ज्योति से ऊर्ध्वरूप होकर प्रज्वलित मणिप्रदीप यदि कही स्फुरित होता है, तो दर्शन-चारित्र-मोहनीय नामक प्रवर्धमान अन्धकार समाप्त होने लगता है।

भावार्थ—गोस्तन के आकार मे स्थित आत्मप्रदेशरूपी नाभिकमल के मध्य मे मन को स्थिर करने पर रत्नप्रदीप के आकार की अनाहत-ज्योति का उदय होता है। उस उदय से दुरित (कर्मों) की उपशातिरूप प्रकृष्ट सारस्वत (ज्ञान) वाली कर्म-निर्जरा (प्रकट/प्राप्त) होती है—ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे आचार्यदेव ने अनाहतनाद-साधना की पूर्ण क्रिया का सकेत करते हुए उसके महनीय परिणामो(फलो) —मोह-क्षय व केवलज्ञान प्रादुर्भाव का सकेत किया है। टीकाकार के अनुसार इस पद्य मे मूलाधार-कमल पर एकाग्रता की साधना तथा उसके महनीय फलो का सकेत है।

जैन परम्परा मे आत्मा के आठ केन्द्रीभूत प्रदेश रुचकाकार माने गये हैं, जो सर्वदा निश्चल/स्थिर रहा करते है। इनका आकार गोस्तन के सदृश तथा मेरु के आठ रुचक-प्रदेशो के समान माना गया है (द्र. राजवार्तिक, 5/8/16, 5/24/9, भगवती आराधना, 1173 व टीका, 1779)। ये रुचक-प्रदेश मूलाधार चक्र मे है। टीकाकार के अनुसार इन्ही आठ प्रदेशो के मध्य चार दलो वाला एक कमल (आधार पद्म) स्थित है, जिसके चारो दलो पर क्रमश वकार आदि (व,श,ष,ह) वर्ण (मातृका) अकित है।

अनाहतनाद-साधना के फलस्वरूप सर्वत्र अव्याबाध रूप से प्रसारित होने वाली ज्ञानज्योति (केवलज्ञान) का उदय होता है और तब ससार के बीज अर्थात् मोह का सर्वनाश हो चुका होता है। क्योकि मोह के नष्ट होने पर ही शेष घातिकर्मों का विनाश होता है (तत्त्वसार-5/ 5) और केवलज्ञान रूपी 'ज्योतिषा ज्योति' (ज्योतियो में श्रेष्ठ ज्योति) उदित होकर सकल परमात्मपना प्रकट होता है (द्र परमात्म-प्रकाश, 2/162-164 व टीका, योगसारप्राभृत 7/2, पद्मनन्दिपचविशति, 1/146)।

उत्थानिका—निश्चयधर्मध्यानसाधक-व्यवहारधर्मध्यानाख्यानोप-सहारनिरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

> **इति निगदितमेतद् देशमाश्रित्य किंचित्,**
> **गुरुसमयनियोगात् प्रत्ययस्यापि हेतोः।**
> **परमपरमुदारज्ञानमानन्दतानम्,**
> **विमलसकलमेकं सम्यगोक समस्ति ।।53।।**

टीका—(गुरुसमयनियोगात्) गुरुपरपरोपदेशागमोपदेशदत्तणि (प्रत्ययस्यापि हेतो) दूरावलोकनादि प्रत्ययनिमित्तमागियु मत्ते (देश-माश्रित्य किंचित्) किरिदुपदेशम पोर्द्दि (एतत्) ई ध्यानविकल्प (इति) इतु (निगदितम्) निरूपिसे पट्टुदु (सम्यगोक) सम्यक्त्वमनुत्पत्ति-निवासमागुळ्ळ (आनन्दतानम्) आनन्दम पेर्च्चिसुवुदु(विमल) विगत-मलमु (सकल) परिपूर्णमु (एकम्) अखण्डमु (परम्) उत्कृष्टमु (उदार-ज्ञानम्) सम्यग्ज्ञानमुमप्प (अपरम्) मत्तोदुपदेश (सम्) लेसागि (अस्ति) उण्टद पेळ्दपेवु।

भावार्थ—समचित्तदि केळ्बुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—निश्चय धर्मध्यान के साधक व्यवहार धर्मध्यान के आख्यान का उपसहार करने के लिए प्रस्तुत छन्द है।

खण्डान्वय—गुरुसमयनियोगात्=गुरुप्रदत्त उपदेश/आज्ञा के कारण, प्रत्ययस्यापि हेतो=(दूरदृष्टि आदि यौगिक सिद्धियो की) प्रतीति/विश्वास होने के कारण से भी, देशम् आश्रित्य=(गुरु के) उप-देश का आश्रय लेकर, किंचिद् एतत् निगदितम्=कुछ यह (पूर्वोक्त निरूपण) कहा गया है। एकम् अपरम्=एक अन्य निरूपण (आगे किया जाने वाला) है, वह, परम्=उत्कृष्ट है, आनन्दतानम्=आनन्द को बढाने वाला है, विमल-सकलम्=निर्मल व परिपूर्ण है, सम्यगोक= सम्यक्त्व का निवासस्थान है,(और) उदारज्ञानम्=अपार सम्यग्ज्ञान-स्वरूप (होने से), समस्ति=समीचीन है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—गुरु-परम्परा के उपदेश और आगम के उपदेश से, दूरावलोकन आदि प्रत्ययो के निमित्त होकर भी कुछ उप-देश को प्राप्त करके यह ध्यान-विकल्प इस प्रकार से निरूपित किया

गया है। सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) की उत्पत्ति के निवास-स्थान, आनन्द को बढाने वाला, विगतमलवाला, परिपूर्ण, अखण्ड, उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञान रूपी पुन अन्य एक उपदेश समीचीन है, इसे प्रतिपादित करूँगा।

भावार्थ —सावधान होकर सुनो—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—आचार्य योगीन्दुदेव ने पूर्वोक्त आख्यान का उपसहार तथा भावी निरूपण की प्रस्तावना—दोनो को प्रस्तुत पद्य मे उपस्थापित किया है। अभी तक जो साधना-क्रम निरूपित किया गया है, उसके सम्बन्ध मे उनका कहना है कि 'उसका आधार गुरु-उपदेश है'। यद्यपि वह उपदेश अत्यन्त विस्तार युक्त है, तथापि उसे साररूप मे यहाँ अशत निरूपित किया गया है। उक्त निरूपण की प्रेरणा का स्रोत भी गुरु उपदेश ही है, तदनुसार ही साधना-विधि व फल का निरूपण ग्रन्थकार ने किया है। अत अभी तक कथित योगसाधना-पद्धति मे गुरु-परम्परा से प्राप्त उपदेश को ही प्रमुखता दी है, ग्रन्थकार ने निजी विचारो व निष्कर्षो को इनमे समाविष्ट नही किया है।

किन्तु अब आगे एक अन्य उपदेश को समीचीन बताते हुए उसका निरूपण प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा यहाँ की है, जो (उपदेश) कि 'सम्यग्ज्ञान' स्वरूप है, अतएव सम्यक्त्व और आनन्द का स्रोत भी है तथा निर्दोष व परिपूर्ण भी है।

इस उपदेश के प्रति टीकाकार ने एक वाक्याश में ही पूरा का पूरा मर्म उडेल दिया है कि 'इस उपदेश को सावधान होकर सुनो'। इसमे यदि प्रमाद किया गया तो मोह के प्रबल उदय के कारण यह कार्यकारी नही हो सकेगा, अत आचार्य ने इसके लिए प्रारम्भ में ही सावधान कर दिया है।

उत्थानिका—गुरुपरपरोपदेशमेंतादुदेदोडे पेळ्दपरु—

प्रथममुदितमुक्तेनादिदेवेन दिव्यम्,
तदनु गणधराद्यै. साधुभिर्यद् धृतञ्च ।
कथितमपि कथंचिन्नाधिगम्यं समोहै,
अधिगतमपि नश्यत्याशु सिद्ध्या विनेह ।।54।।

टीका—(प्रथमम्) प्रकृत युगदादियोळु (उक्तेनादिदेवेन) गर्भावतरणादिपचकल्याणार्हमेदु पट्टादिभट्टारकदेवर्नि (दिव्यम्) भेदाभेदरत्नत्रयात्मक-दिव्योपदेश (उदितम्) जन्मान्तराभ्यासदि त्रिज्ञानधारियप्पुदरि तन्नि पुट्टिदुदु केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तर वृषभसेनादिगणधरदेवर्गुपदेश गेय्दनेबुदर्थम् । (तदनु) अल्लिबळिक्के (गणधराद्यै) गणधरर मोदलाद (साधुभि) तपोधनरि (यत्) आवुदोदुपदेश (धृतं च) ताळ्दे पट्टुदद (कथचित्) एत्तानुदयथि (कथितमपि) निरूपिसे पट्टुदादोड (समोहै) दर्शन-चारित्रमोहोदयोपेतरि (नाधिगम्यम्) अरियेपडदु (अधिगतमपि) एत्तानुमरिदोड (सिद्ध्या विना) फलसिद्धियिनगल्दुदागि (इह) इल्लि (आशु) शीघ्र (नश्यति) केड्गु ।

भावार्थ—दुर्लभपरमोपदेशमनेत्तानु पडेदोगे विस्मृतयुमुदासीनमुमागदेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—गुरु-परम्परा से उपदेश कैसा चला आया है—यह बतलाते है ।

खण्डान्वय —यद्=जो, प्रथमम्=(युग के प्रारम्भ मे) सर्वप्रथम, आदिदेवेन=(प्रथम तीर्थङ्कर) आदिनाथ के द्वारा, उक्तेन=जिन वाणी के रूप से, दिव्यम् उदितम्=दिव्यध्वनि के रूप मे प्रादुर्भूत हुआ था, च=और, तदनु=उनके पश्चात्, गणधराद्यै.=गणधर देव आदि के द्वारा, (तथा), साधुभि:=मुनिवरो/आचार्यों के द्वारा, धृतम्=धारणा मे (सुरक्षित) रखा गया (वह उपदेश), कथञ्चित् कथितम् अपि=किसी तरह कहे जाने पर भी, समोहै.=मोहयुक्त प्राणियो के द्वारा, न अधिगम्यम्=(हृदय मे उतारने या) समझने योग्य नही हो पाता है, (तथा यदि किसी प्रकार), अधिगतम् अपि=समझ में आ भी जाये (तो), इह सिद्ध्या विना=इस कलिकाल में वाछित सिद्धि के बिना, आशु नश्यति=शीघ्र नष्ट होता जा रहा है ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—प्रस्तुत युग के प्रारम्भ मे गर्भावतरण आदि पॉच कल्याणको के योग्य ऐसे प्रधान भट्टारक (तीर्थंकर) देव के द्वारा भेद और अभेद-रत्नत्रयात्मक दिव्य उपदेश को जन्मान्तर के अभ्यास से तीन ज्ञानो के धारी जीवो के द्वारा अपने से उत्पन्न हुए केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर वृषभसेन आदि गणधरदेवो के लिए उपदेश किया गया है। इसके बाद गणधर आदि तपोधनो के द्वारा जो उपदेश धारण किया गया, उसको कुछ भी, कहे जाने पर भी दर्शन और चारित्र मोहनीय के उदय से युक्त जीवो के द्वारा समझा नही जायेगा। अगर समझ भी गये तो भी फल की सिद्धि न होने से यहाँ पर शीघ्र नष्ट हो जायेगा।

भावार्थ —अति दुर्लभ दिव्य उपदेश को कही से प्राप्त हो जाने पर उसे भूलना नही चाहिए, और न ही उसके प्रति उदासीन होना चाहिए।

विशेष—यहाँ ग्रन्थकार एव टीकाकार ने श्रुत-परम्परा का परिचय देते हुए जिनोपदिष्ट प्रवचन को ही कर्म-मुक्ति का प्रमुख साधन बताया है, तथा कहा है कि उपदिष्ट तत्त्व को साधना-विधि द्वारा अविलम्ब जीवन मे उतार लेना चाहिए, अन्यथा मोह के जोर के कारण वह शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा।

परम्परा की दृष्टि से 'श्रुत' अनादि है (राजवार्तिक, 1/20/7), किन्तु प्रत्येक युग की दृष्टि से जिनवाणी का उद्गम तीर्थंकर की दिव्य-देशना से होता है (उत्तरपुराण 77/8)। भरत क्षेत्र मे वर्तमान काल मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए, उनके बाद अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी पर्यन्त कुल चौबीस तीर्थंकर हुए। फिर इन्द्र-भूति गौतम आदि गणधरो की परम्परा ने इस 'श्रुत' को द्वादशाग के रूप मे ग्रन्थबद्ध(लिपिबद्ध नही) किया। अत 'श्रुत' के अर्थकर्ता तीर्थंकर एव द्रव्यकर्ता गणधर माने गये है (द्र धवला 1/1/1 पृ 61-73, तिलोयपण्णत्ति-1/55, 76, 80-81, राजवार्तिक-१/8/15, 1/20/12)।

कालक्रम से इस श्रुतज्ञान को परवर्ती आचार्यो व साधु-परम्परा ने 'स्मृति' मे सुरक्षित रखा, किन्तु कालदोष व प्रमाद की प्रबलता से

स्मृति मे शिथिलता बढती गयी, अत परवर्ती आचार्यों ने उसे लिपिबद्ध करके पुस्तकारूढ किया, जो कि अनुगामी आचार्यों, सन्तों व विद्वत्परम्परा द्वारा पोषित व संवर्धित किया जाता रहा है।

मोही जीवो के कुध्यान की बहुलता होने से 'श्रुत' का मर्म यदि आंशिक रूप समझ मे भी आ जाये, तो किंचित् भी प्रमाद या उदासीनता होने पर वे उसे जीवन में उतार पाने में सर्वथा अक्षम रहते है (ज्ञानार्णव, 4/41-49, पद्मनंदिपंच 15/10) और परमपद की प्राप्ति उन्हे नही हो पाती है। अत यदि ज्ञानी गुरु उपदेश देते हों, तो उसको अत्यन्त सावधानीपूर्वक सुनकर पूर्ण समर्पण के भाव से उसे जीवन में उतारने का यत्न करना चाहिए।

उत्थानिका—दिव्योपदेशनिरूपणार्थमुत्तरवृत्तद्वयावतारम्—

स्वर-निकर-विसर्ग-व्यञ्जनाद्यक्षरैर्यद्,
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम्।
अरस - तिमिररूप-स्पर्श-गन्धाम्बु-वायु-
क्षिति-पवनसखाणु-स्थूल-दिक्चक्रवालम् ॥55॥

ज्वर-जनन-जराणां वेदना यत्र नास्ति,
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नोगतिर्वा।
तदतिविशदचित्तै लभ्यतेऽगेऽपि तत्त्वम्,
गुरुगुण-गुरुपादाम्भोज-सेवाप्रसादात् ॥56॥

टीका—(स्वर-निकर-विसर्ग-व्यञ्जनाद्यक्षरैः) अकारादिचतुर्दश-स्वरानुस्वार-विसर्ग-कादिव्यजनाद्यक्षरगळि (रहितम्) अगत्दुदु (अहितहीनम्) मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामरूपाहित-रहितमु (शाश्वतम्) द्रव्यार्थिकनयदि नित्यमु (मुक्तसख्यम्) विमळानतगुणत्व-दिनन्तमु (अरसतिमिररूपस्पर्शगन्धाम्बुवायु-क्षिति-पवनसखाणु-स्थूल-दिक्चक्रवालम्) पञ्चरसाधकार-पञ्चवर्णाष्ट-स्पर्श-द्विगन्ध-वनपवना-वनी-पवनसखाण्-स्थूलपुद्गलत्व-दिक्-निचयरहितमुमप्प (यत्) आवुदोदु—

(ज्वर)ज्वरादि व्याधियु (जनन) उत्पत्तियु (जराणाम्)मुप्पुमेदिवर (वेदना) पीडे (यत्र) आवुदोदेडेयोळु (नास्ति) इल्ल, (मृत्यु) सावु (परिभवति न) परिभविसदु, (नागति) मगुळे वरविल्ल (नो गतिर्वा) पोगिल्ल मेणु। (तत्) अतप्प (तत्त्वम्) निजनिरजनतत्त्व (अतिविशद-चित्तै) विशिष्ट विस्तीर्णविवेकज्ञानोपेतचित्तदि (अगेऽपि) स्वागदल्लिये मत्ते निसरे (लभ्यते) काललब्धिवशदि पडेयल्पडुगुमदुवु (गुरुगुणगुरु-पादाम्भोज-सेवाप्रसादात्)निश्चय-व्यवहार-मूलोत्तर-गुणोपेत-गुरुचरण-सरोजाराधना-प्रसाददिनक्कु।

भावार्थ—ध्येयरूप-सहज-परमपारिणामिक-भावात्मकात्मतत्त्वम दिव्योपदेश सदादराधनेयु साक्षान्मोक्ष-हेतुमक्कुमेबुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—दिव्य-उपदेश का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत छन्द हैं—

खण्डान्वय—यद् =जो (तत्त्व), स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाद्यक्षरैः रहितम् =अकारादि स्वरों के समूह, विसर्ग, 'क' आदि व्यंजनाक्षरों आदि से रहित है; अहित-हीनम् =अहितकारी विभाव-परिणामो से रहित है, शाश्वतम् =अविनाशी/नित्य है, मुक्तसंख्यम् =सख्यातीत/ अनन्त है; अरस-तिमिर-रूप-स्पर्श-गन्धाम्बु-वायु-क्षिति-पवनसखाणु-स्थूल-दिक्चक्रवालम् =रस, अन्धकार, रूप, स्पर्श, गन्ध, जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि, अणुता-स्थूलता, दिशाओं के समूह (अर्थात् पूर्व-पश्चिम आदि क्षेत्र-भेद) से जो रहित है, (तथा) यत्र =जहाँ, ज्वर-जनन-जराणाम् =ज्वर, जन्म, वृद्धावस्था की, वेदना नास्ति =वेदना नहीं है, न मृत्यु परिभवति =(जहाँ) मृत्यु का प्रभाव नही है, न आगति नो व गति (परिभवति) =गति-आगति—दोनो का जहाँ अभाव है, तत् तत्त्वम् =उस तत्त्व को, गुरुगुणगुरुपादाम्भोज-सेवाप्रसादात् =श्रेष्ठ गुणो वाले गुरुजनो के चरण-कमलो की सेवा के प्रसाद से, अतिविशद-चित्तै =अत्यन्त निर्मल मन वालो (साधको) को, अगे अपि =(अपने) शरीर में भी, लभ्यते =प्राप्त हो जाता है ।

हिन्दी अनुवाद (**टीका**)—अकार आदि चौदह स्वरो, अनुस्वार, विसर्ग, 'क' आदि व्यंजनाक्षरो इत्यादि से जो रहित है, मिथ्यात्व-राग आदि विभाव परिणामरूप अहित से जो रहित है, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जो नित्य है, विमल अनतगुणमय होने से अनन्त है, पाँच रस, अधकार, पाँच वर्ण, आठ स्पर्श दो, गन्ध, वन,पवन-अवनि(पृथ्वी),पवन-सखा अर्थात् अग्नि-अणु व स्थूल पुद्गलमयत्व तथा दिशा-समूह से जो रहित है, ज्वर आदि व्याधियो की, उत्पत्ति की, वृद्धावस्था आदि की वेदना (जहाँ पर) नही है, फिर जन्म नही लेना है, पुन मृत्यु नही होनी है—ऐसे निज निरजन तत्त्व को विशिष्ट विस्तीर्ण विवेक रूप ज्ञान से युक्त चित्त के द्वारा अपने अग (शरीर) में भी काललब्धि के वश से प्राप्त किया जाता है, (कैसे ?) निश्चय-व्यवहार रूप मूल और उत्तरगुणो से युक्त गुरु के चरणकमलो की आराधना के प्रसाद से ऐसा होता है ।

भावार्थ—ध्येयरूप सहज परमपारिणामिक-भावरूप आत्मतत्त्व के प्रतिपादक दिव्य उपदेश की सदा आराधना करना साक्षात् मोक्ष का कारण होता है—ऐसा अभिप्राय है ।

विशेष—निजनिरजन परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति उन्ही को होती है, जिनके अन्तम् मे भेदज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो, अर्थात् निज-ज्ञायक परमात्मा के अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय, विषय, वाणी, शब्द और मन को भी अपने मे अत्यन्त भिन्न जिन्होने जाना-माना व अपनाया हो। और इसके निमित्त एक प्रबल एव सार्थक साधन बतलाया है—ज्ञानी गुरु की आराधना से प्राप्त होने वाला परमतत्त्व के पावन उपदेश का श्रवण, मनन एव उपयोग का सम्पूर्ण समर्पण।

सद्गुरु का सयोग हो, तत्त्व श्रवण मे रुचि हो, स्वपरभेदविज्ञान मे प्रवृत्ति हो, तथा ससार, शरीर व भोगो से विरक्तिपूर्वक मन की स्थिरता एव ध्यानाभ्यास मे सक्रियता इत्यादि का संयोग हो (द्र० तत्त्वानुशासन, 41-45, 75, 218 तथा आत्मानुशासन, 224-226), साथ ही काललब्धि की अनुकूलता हो (तत्त्वसार, 12) तो साधक इसी जन्म में परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है।

आगम प्रमाण है कि सम्यक्त्व व चित्तशुद्धि के साथ वीतरागता की तप साधना का मार्ग ज्ञानी गुरु के प्रसाद के बिना प्राय ज्ञात नही हो पाता है (पद्मनदिपचविशति, 10/26, परमात्मप्रकाश, 2/168, आप्तपरीक्षा, पृ० 263-264, योगसार, 41, आराधनासार, 49 की टीका)।

उत्थानिका—गुरूपदेशमिल्लदे तत्त्वपरिज्ञानमागदेदु पेळ्दपरु—

गिरि-गहनगुहाद्यारण्य - शून्यप्रदेश-
स्थितिकरणनिरोध-ध्यान-तीर्थोपसेवा-
प्रपठन-जप-होमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः,
मृगय तदपरं त्वं भो ! प्रकारं गुरुभ्यः ॥57॥

टीका—(गिरि) पर्वतदोळ् (गहन) पूगलरिदप्प (गुहा) पाषाण-सधियोळ् (अरण्यशून्यप्रदेश) तरुकोटरादिशून्यप्रदेशं (स्थिति) कायोत्सर्गमिप्पुदु (करणनिरोध) पचेन्द्रियनिरोधमु (ध्यान) एकाग्र-चिन्तानिरोधध्यानमु (तीर्थोपसेवा) लौकिकगगादितीर्थस्नानाराधनेयु (प्रपठन) वेदसिद्धान्ताद्यध्ययनमु (जप) गायत्र्यादिइष्टदेवतानामा-क्षरजपमु (होमै) अग्नि-कार्यादिहोममयमुमेदिवरि (ब्रह्मण) परमब्रह्म-स्वरूपद (सिद्धि) निष्पत्ति (नास्ति) इल्ल । (तत्) अदु कारणदि (भो) एले प्रभाकरभट्ट ! (त्वम्) नीम (गुरुभ्य) निज-परमात्माराधना-निरतरप्प गुरुगळत्तणिं (अपरम्) पूर्वोक्त विधानदिनन्यनप्प (प्रकारम्) विधान (मृगय) अरसु ।

भावार्थ—सम्यग्गुरूपदेशरहिततत्वाराधने कुरुडगुदुरेय परिवोलक्कु-मेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—गुरु के उपदेश के बिना तत्त्व का परिज्ञान नही होता है—यह बता रहे हैं।

खण्डान्वय— —गिरि-गहन-गुहाद्यारण्य-शून्यप्रदेश-स्थिति-करण-निरोध-ध्यान-तीर्थोपसेवा-प्रपठन-जप-होमै =पर्वतो, उनकी गहन गुफाओ एवं जगल आदि के निर्जन प्रदेशो मे कायोत्सर्ग (स्थिति), इन्द्रियनिरोध, ध्यान (सरागी देवताओ का), तीर्थों के सेवन, (स्तोत्रादि के) पठन, जप, होम—इनसे, ब्रह्मण सिद्धि नास्ति=ब्रह्म (शुद्धात्म-तत्त्व) की सिद्धि नही होती है, तद्=इसलिए, भो !=हे शिष्य ! गुरुभ्य =गुरुओ के पास से, अपरं प्रकारम्=दूसरे तरीके की, मृगय=खोज करो।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—पर्वत मे, अगम्य ऐसे पत्थरो के संधिप्रदेश

में, वृक्षो के कोटर आदि शून्य प्रदेश मे कायोत्सर्ग करने से, पचेन्द्रियो के निरोध से, एकाग्रचिन्तानिरोध ध्यान से, लौकिक गगा आदि तीर्थों मे स्नान व उनकी आराधना करने से, वेद-सिद्धात आदि ग्रन्थो का अध्ययन करने से, अग्निकार्य आदि रूप होम आदि करने से परमब्रह्म-स्वरूप की निष्पत्ति नही होती है। अत: हे प्रभाकरभट्ट! तुम निज परमात्मा की आराधना मे निरत—ऐसे गुरुओं के द्वारा पूर्वोक्त विधान से भिन्न विधान (साधन) को खोजो।

भावार्थ—सच्चे गुरु के उपदेश से रहित (होकर) आराधना करना अधे घोडे की सवारी करने जैसा (खतरनाक व हानिकारक) कार्य है—ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—वास्तव में ज्ञानी गुरु के उपदेश से ही जीव को परम-पारिणामिक भावरूप शुद्ध जीवतत्त्व का बोध सम्यक् रीत्या प्राप्त होता है। अन्य कुवादि तो जीवो को सम्यक्त्वहीन कार्यो—जैसे गगादि में स्नान, तीर्थाटन, जप, होम, पर्वत आदि शून्य स्थानो मे तपश्चरण आदि बाह्यसाधनो पर बल देते हैं, किन्तु शुद्धात्म तत्त्व के ज्ञान-बिना ये समस्त क्रियाये चेतन विहीन कलेवर की भाँति तुच्छ व त्याज्य ही हैं। अत: इन क्रियाओ की निरर्थकता बताते हुए योगीन्दुदेव ने पुन परामर्श दिया है कि आत्मार्थी साधक को ज्ञानी सद्गुरु की शरण मे जाकर शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए।

आचार्य योगीन्दुदेव ने 'योगसार' मे भी कहा है कि प्राणी तभी तक कुतीर्थों मे भ्रमण और धूर्तता के कार्य करता रहता है, जब तक उसे सद्गुरु के प्रसाद से आत्मतत्त्व का सम्यक् परिज्ञान नही हो जाता (योगसार-41)। वही उन्होने तीर्थों, देवालयो आदि में देव को खोजने की प्रवृत्ति की भी निन्दा की है (वही-42-45)।

वस्तुत सभी आध्यात्मिक सन्तो ने निम्नलिखित सूत्रो पर जोर दिया है—(1) तीर्थादि में धर्म मानना अज्ञान है, (2) आत्मा देहरूपी देवालय मे ही स्थित है, (3) आत्म-शुद्धि के साधन गगादि तीर्थों मे स्नान आदि करना नही है, बल्कि इसके लिए सयम, तप आदि अगी-कार करने होगे,(4) अन्य विविध बाह्य धार्मिक क्रियाओ से परमात्मा की प्राप्ति नही होती, अपितु निज शुद्धात्मा के यथार्थ ज्ञान व आराधना से ही मोक्षपद की प्राप्ति सभव है।

उत्थानिका—स्वदेहस्थमागियु परमात्मतत्त्वं गुरूपदेशमिल्लदोडरियें पडदेंदु पेळ्दपरु—

> **दृगवगमनलक्ष्म स्वस्य तत्त्वं समन्ताद्,**
> **गतमपि निजदेहे देहिभिर्नोपलक्ष्यम् ।**
> **तदपि गुरुवचोभिर्बोध्यते तेन देव:,**
> **गुरुरधिगततत्त्वस्तत्त्वत: पूजनीय** ॥58॥

टीका—(दृगवगमनलक्ष्म) शक्तिनिष्ठनिश्चयनयदि सकलविमल-केवलज्ञान-दर्शन-लक्षणमप्प (स्वस्य तत्त्वम्) निजपरमात्मतत्त्व (समन्तात्) सुत्त णिद (निजदेहे) गृहीतस्वकीयशरीरदोळु (गतमपि) सन्दिर्दुदागियु मत्ते (देहिभि) शरीरिगळि (नोपलक्ष्यम्) अरियें पडदेदु (तदपि) अदु मत्ते (गुरुवचोभि) परमगुरुवचनगळि (बोध्यते) अरियल्-पडुगु, (तेन) अदु कारणदि (अधिगततत्त्व) परिज्ञात-निजात्मतत्त्वनप्प (गुरु) गुरुवे (देव) परमाराध्यनक्कुमप्पुदरि (तत्त्वत.) व्यवहारानु-ज्ञायिमप्प निश्चयदि (पूजनीय) पूजिसे पडुवो ।

भावार्थ—निश्चयदि तनगे ताने गुरुवागियु, व्यवहारदि तीर्थोप-देशकन गुरुवेनवेळ्कुमेंबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—अपने शरीर मे स्थित होने पर भी परमात्मतत्त्व को गुरु के उपदेश के बिना जाना नही जा सकता है—ऐसा तात्पर्य है ।

खण्डान्वय—दृगवगमनलक्ष्म=दर्शन व ज्ञान चिह्न वाले, स्वस्य तत्त्वम्=निज परमात्म तत्त्व को, निजदेहे=अपने शरीर मे, समन्ताद् गतम् अपि=समस्त अशो मे (चेतना रूप से) व्याप्त होने पर भी, देहिभि =शरीरधारी प्राणियो द्वारा, न उपलक्ष्यम्=दृष्टिगोचर/ अनुभूतिगम्य नही हो पाता है । तद् अपि=वह (परमात्मतत्त्व) भी, गुरुवचोभि =सद्गुरु के उपदेशो से, बोध्यते=ज्ञात हो जाता है । तेन=इस कारण से, अधिगततत्त्व =तत्त्वज्ञानी, गुरु.देव.=सद्गुरुदेव, तत्त्वत·=यथार्थत , पूजनीय =पूजनीय है ।

हिन्दी अनुवाद(टीका)—शक्तिनिष्ठ निश्चयनय से सम्पूर्णत निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन है लक्षण जिसका—ऐसे निजपरमात्मतत्त्व को चारो ओर से प्राप्त अपने शरीर मे रहने पर भी शरीरधारियों के

द्वारा नही जाना जाता है; वह भी परमगुरु के वचनों के द्वारा जाना जाता है। इसलिए जिन्होंने अच्छी तरह से निज आत्मतत्त्व को जान लिया है—ऐसे गुरु ही परम आराध्य होते है। अत (वे) व्यवहार के अनुज्ञाता (व्यवहार का ज्ञान रखने वाले) निश्चय से पूजने योग्य हैं।

भावार्थ—निश्चय से अपने आपको गुरु समझकर, व्यवहार से धर्म-तीर्थ के उपदेश को (अपना) गुरु समझना चाहिए—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—देवालयों, तीर्थ आदि स्थानो में आत्मदेव की स्थिति का निषेध करने के बाद प्रस्तुत पद्य में ग्रन्थकार ने प्राप्त देह-देवल में ही परमात्म-तत्त्व की स्थिति का निरूपण करते हुए यह भी बताया है कि तत्त्वज्ञानी गुरु के प्रसाद से ही परमात्मतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान होता है, अत उनकी पूजा (उचित, पर्याप्त सम्मान आदि) करनी चाहिए।

आचार्य देव ने यहाँ गुरु के लिए 'अधिगत-तत्त्व' विशेषण का प्रयोग किया है, जिससे यह सकेतित होता है कि 'गुरु' वही पूजनीय है, जो स्वय तत्त्वज्ञानी हो, अन्यथा वह स्वय तो अधोगति को प्राप्त होगा ही, शिष्यो को भी पतन के गर्त मे ले जायेगा। मिथ्यात्व का अभाव करने वाला सम्यक्त्वाभरण से अलकृत जीव ही तत्त्वज्ञानी होता है (परमात्मप्रकाश 1/76, 79), अत सम्यक्त्वरहित कुतीर्थिक व्यक्तियो को 'गुरु' की कोटि में नही रखा जा सकता है। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति स्वभावत तटस्थ, वितृष्ण व विरक्त स्वभाव का शात व साधनारत व्यक्ति होता है, वही 'सद्गुरु' की श्रेणी मे आ सकता है। (समयसार-कलश 70, 89, 135, आप्तपरीक्षा, 12। आदि)।

सद्गुरु के करुणा-रसभीने मगममय वचनो से भव्यजीव यह समझकर प्रतीति मे ले लेता है कि "मैं समस्त पद व पर्यायों से पार को प्राप्त त्रिकाली ज्ञायक शुद्धात्मा हूँ, शरीरादि परद्रव्य अज्ञान व मोह की प्रबलता से मुझे अपने-जैसे लगते थे, किन्तु सद्गुरु की कृपा से मेरा भ्रम दूर हो गया है।"

वस्तुत बाह्य धरातल पर गुरु-शिष्यादि सम्बन्ध व्यावहारिक दृष्टि से ही यथार्थ हैं (परमात्मप्रकाश 1/89), अत निश्चयनय से तो आत्मा ही आत्मा का (स्वयं का) गुरु है (द्र इष्टोपदेश-33; समाधिशतक-75), जो कि स्वकीय विवेक को जागृत करके परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर पाने में सफल होता है। इसलिए निज आत्मा ही वास्तव में पूज-नीय/ध्येय है (परमात्मप्रकाश 1/95, 104)।

उत्थानिका—(तदुक्त विद्यानन्दस्वामिभिः) अंते विद्यानन्द-स्वामिगळि निरूपिसेपट्टदेदु वेदमतसंवादमं तोरिदपरु—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः,
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।।59।।

टीका—(सुबोध) सम्यग्ज्ञान (अभिमतफलसिद्धेः) इष्टार्थसिद्धिगे (अभ्युपाय.) मुख्यकारणमक्कु (स च) आ सम्यग्ज्ञान (शास्त्रात्) सुनयोपेतशास्त्रदत्तणिं (प्रभवति) अक्कु। (तस्य च) मत्तमाशास्त्रद (उत्पत्ति) जनन (आप्तात्) अष्टादशदोषविरहिताप्तनत्तणिनक्कु; (इति) इदु कारणदि (स.) आ दोषविरहिताप्तं (पूज्यः) पूजिसे पडुवं (भवति) अक्कु। (तत्प्रसादात्) आ परमाप्तनत्तणि (प्रबुद्धै) सम्यग्ज्ञानोत्पत्तियादुदरि (कृतमुपकारम्) माडेपट्टुपकारमं (साधवः) तपोधनरु (न हि विस्मरन्ति) मरेवरे ? मरेयरेबुदर्थम् ।

भावार्थ —'**स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।**
स्वयं हि तत्प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ।।'

ई श्लोकनिरूपितक्रमं लब्धिवशदि तनगे ताने गुरुवादडं, व्यवहारनयापेक्षयि परमागमोपदेशं जिनेन्द्रप्रणीतमप्पुदरि परमजिनेन्द्रने गुरुवु पूज्यनक्कुमेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—(जैसा कि विद्यानन्दिस्वामी ने कहा है) आगे श्री विद्यानन्दि स्वामी द्वारा निरूपित किये गये वेदमतसंवाद का कथन करते हैं—

खण्डान्वय—अभिमतफलसिद्धे.=अभीष्टफल की सिद्धि का, अभ्युपाय.=श्रेष्ठ उपाय, सुबोध.—सम्यग्ज्ञान है; स च=और वह (सम्यग्ज्ञान), शास्त्रात् प्रभवति=शास्त्र (के आश्रयण) से उत्पन्न होता है; तस्य च=और उस (शास्त्र) की, आप्तात् उत्पत्तिः=आप्त (तीर्थंकर / अर्हन्त आदि) से उत्पत्ति (होती है) । इति=इसलिए,

तत्प्रसादात् प्रबुद्धं =उस (गुरु) के प्रसाद/अनुग्रह से प्रबोध पाने वालों के लिए, स पूज्य.=वह(गुरु)पूज्य हैं, हि=क्योंकि, कृतम् उपकारम्= किया गया उपकार, साधव =सत्पुरुष, न विस्मरन्ति=भूलते नही।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—सम्यग्ज्ञान इष्ट अर्थ की सिद्धि का मुख्य कारण होता है, वह सम्यग्ज्ञान सम्यक् नय से युक्त शास्त्र से होता है, और उस शास्त्र की उत्पत्ति अट्ठारह दोषो से विरहित 'आप्त' से होती है। इस कारण से वह दोष-विरहित 'आप्त' पूजा के योग्य होते हैं। उन परम आप्त के द्वारा सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होने से किये गये उपकार को तपोधन भूलेगे क्या ? नही भूलेगे—ऐसा अर्थ है।

भावार्थ—"अपने मे अभिलाषा-सहित होने से, अभीष्ट का ज्ञापक (ज्ञान कराने वाला) होने से, और उसका प्रयोक्ता भी स्वयं ही होने से आत्मा ही आत्मा का गुरु है"—इस श्लोक मे निरूपित पद्धति के अनुसार लब्धिवश अपने-आपके गुरु होने पर भी व्यवहार नय की अपेक्षा से परमागम के उपदेश को जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा प्रणीत होने से परम जिनेन्द्र ही गुरुपने से पूज्य हो सकते है—ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य मे ज्ञानदाता गुरु के प्रति श्रद्धाभक्ति आदि का औचित्य सिद्ध किया गया है। जब लोक मे भौतिक उपकारको के प्रति भी सज्जन कृतज्ञता ज्ञापित करते है, तो फिर जो सज्ज्ञान के द्वारा अनेको जीवो का कल्याण करते है, ऐसे ज्ञानी सद्गुरुओ के प्रति श्रद्धा-भक्ति का भाव होना सर्वथा उचित है।

[उक्त (अभिमतफलसिद्धे.…) पद्य आ० विद्यानन्दि स्वामी के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० 17) में 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत है तथा इस छन्द का अन्तिम चरण 'आप्तपरीक्षा' (विद्यानन्दिकृत) मे भी है, अत' स्पष्ट है कि यह छन्द विद्यानन्दि द्वारा रचित तो नही है, किन्तु उनके द्वारा उद्धृत अवश्य है। टीकाकार ने वेदमतसंवाद का उल्लेख किया है किंतु ऐसी कोई कृति सम्प्रति दृष्टिगोचर नही होती है।]

विद्यानन्दि स्वामी का उक्त कथन (समर्थित वचन) व्यवहार-नय पर आधारित है, अत. टीकाकार ने निश्चयनय के पक्ष का बोध कराने के लिए आचार्य पूज्यपादकृत 'इष्टोपदेश' (पद्य सं० 34) का श्लोक "स्वस्मिन् सदभिलाषित्वात्" इत्यादि" उद्धृत किया है।

उत्थानिका—मोक्षमार्गाराधनोपदेशनिरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम् –

दृगवगमनवृत्त - स्वस्वरूपे प्रविष्टः,
व्रजति जलधिकल्पं ब्रह्म गम्भीरभावम् ।
त्वमपि सुनय ! मत्त्वा मद्वच सारमस्मिन्,
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिधाम ।। 60 ।।

टीका—(दृग्) निजशुद्धात्मरुचिरूपसम्यग्दर्शनमु (अवगमन) निजपरमात्मपरिच्छित्तिरूपसम्यग्ज्ञानमु (वृत्त) निजनिरंजनपरमात्म-तत्त्व - निश्चलानुभूतिरूप - सम्यक्चारित्रमेबनिश्चयरत्नत्रयात्मकमप्प (स्वस्वरूपे प्रविष्ट) निजस्वरूपदोळळपोक्कु (जलधिकल्पम्) अगाधसलिलनिधिसमानमप्प (गभीरभावम्) गंभीरस्वरूपमप्प (ब्रह्म) परमब्रह्मस्वरूपम (व्रजति) येय्दुगु। (त्वमपि) नीनु मत्ते (सुनय !) निचयज्ञने ! (मद्वच सारम्)मदीयवाक्यसारमं(मत्त्वा) अरिदु(अस्मिन्) ई परमब्रह्मस्वरूपदोळु (भव) नेलसिदेयागु (भवान्तस्थायि) ससारावसानस्थितमप्प (धाम) अनतज्ञानादिगुणगणात्मकनिःश्रेयसक्के (अधिधाम) मिक्केडे (भवसि) अप्पे।

भावार्थ –परब्रह्मस्वरूपनिष्ठनवश्य मुक्तनक्कुमेंबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—मोक्षमार्ग की आराधना के उपदेश का निरूपण करने के लिए प्रस्तुत छन्द है।

खण्डान्वय—दृवगमनवृत्त-स्वस्वरूपे =(सम्यग्)दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप निजस्वरूप में, प्रविष्ट =अतरंगस्थिति प्राप्त कर, गभ्भीरभावम् =अत्यन्त गम्भीर, जलधिकल्पम् =समुद्र के समान (निस्तरग समुद्र के समान), ब्रह्म=निर्विकल्प आत्मतत्त्व को, व्रजति=प्राप्त करता है। सुनय !=हे (निश्चय) नय के ज्ञानी ! त्वम् अपि=तुम भी, मद्वच·सारम्=मेरे वचनो के निष्कर्ष को, मत्त्वा=समझकर, अस्मिन् =इस (रत्नत्रयात्मक आत्मस्वरूप) में, भव=(स्थित) हो जाओ, (ताकि), भवान्तस्थायि-धाम-अधिधाम=भवभ्रमण का अन्त होने पर प्राप्त होनेवाले शाश्वत मुक्तिधाम के अधिपति, भवसि=हो जाओ।

हिन्दी अनुवाद (**टीका**)—निज शुद्धात्मा का रुचिरूप सम्यग्दर्शन, निजपरमात्मतत्त्व का परिच्छित्तिरूप सम्यग्ज्ञान (और) निजनिरञ्जन-

परमात्मतत्त्व का निश्चल अनुभूतिरूप सम्यक्चारित्र---ऐसे निश्चयरत्न-त्रयात्मक निजस्वरूप मे अन्दर जाकर अगाध जलनिधि (समुद्र) के समान गम्भीर स्वरूप वाले परब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है। तुम भी हे निश्चयज्ञ! मेरे वचनो के सार को समझकर इस परमब्रह्मस्वरूप में निवास करो। (इससे तुम) ससार के समाप्तिरूप स्थित अनन्तज्ञानादि गुणो से युक्त नि श्रेयस (मोक्ष) के अधिपति हो जाओगे।

भावार्थ—परमब्रह्म के स्वरूप मे एकनिष्ठ व्यक्ति अवश्य ही मुक्त होता है—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—परमार्थत निजशुद्धात्म तत्त्व की निर्दोष प्रतीति (श्रद्धान), ज्ञान व उसमे निष्कम्प स्थिरता ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रय है, जो कि वास्तविक मुक्ति का मार्ग है। अतएव आचार्य योगीन्दु देव ने 'परमात्मप्रकाश' तथा 'योगसार' आदि ग्रन्थो में स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि निजशुद्धात्मस्वरूप को छोडकर (सम्यक्) दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रूप रत्नत्रय) की सत्ता नही है (परमात्मप्रकाश 1/94, 2/12, योगसार-81)।

निर्मल निजशुद्धस्वभाव की चाहत के बिना, साधक चाहे कही भी चला जाये, उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है (योगसार, 28)।

यहाँ पर योगीन्दुदेव ने निर्विकल्प आत्मा (परम ब्रह्म/ज्ञायक तत्त्व) को एक गम्भीर समुद्र की उपमा दी है, जो कि अन्य जैन ग्रन्थो मे भी दृष्टिगोचर होती है (देखे आत्मख्यातिटीका—14, 73, 83; समय-सार कलश-26,58,141,271)। आत्मा या ब्रह्मरूपी समुद्र को 'गम्भीर' विशेषण देकर आचार्य इसकी शान्त, निर्विकल्प अवस्था का संकेत करना चाहते हैं, जो कि पर्यायो की तरंगो से पार एक त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकतत्त्व ज्ञानियो की दृष्टि का विषय है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी समयसारकलश में समस्त लोक को चैतन्यब्रह्म-समुद्र के शातरस में सर्वांग निमज्जित होने का आह्वान किया है (समयसारकलश-32)।

उत्थानिका—मनमात्मनल्लि निल्लदोडे सकलदोषप्रसंगमक्कुमेंदु पेळ्दपरु—

यदि चलति कथञ्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्,
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंग ।
तदनवरतमन्तर्मग्न - संविग्नचित्तः,
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥ 61 ॥

टीका—(स्वस्वरूपात्) निजनिरजन-परब्रह्म स्वरूपदत्तणिं (मानसम्) मन (कथचित्) एत्तानु (चलति यदि) चलियिसुगुमप्पोडे (बहि.) पोरगे (भ्रमति) तोळलगु (अत) अदु कारणदिं (ते) निनगे (सर्वदोषप्रसग) सकलदोषसयोगमक्कु (तत्) अदु कारणदि (अनवरतम्) निरन्तर (अन्तर्मग्न) अन्तर्मग्नवोळपोक्कडंगि (सविग्न) लीनमाद (चित्त.) चित्तमनुळ्ळ (भव) आगु (भवान्तस्थायि) पचप्रकारससारावसानस्थायिमप्प (धाम) शक्तिस्थितनिजशुद्धगुणव्यक्तिरूपनिर्वाणस्थानक्के (त्वम्) नीम (अधिप) अधिपति (भवसि) अप्पे ।

भावार्थ—मनमात्मनोळविचलमागि निदोडे मुक्तिवडेवुदरिदल्लेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—मन (उपयोग) के आत्मा में स्थिर न होने पर सभी दोषो का प्रसग आता है—यह बतला रहे है ।

खण्डान्वय—यदि=अगर, कथंचित्=किसी कारणवश, मानसम्=(तुम्हारा) मन/उपयोग, स्वस्वरूपाद्=अपने निज (शुद्धात्म) स्वरूप से, चलति=चलायमान हो जाता है, (और), बहि.भ्रमति=बाहर (विषयो मे) भटकता है (तो), अत.=उक्त कारण से, ते=तुम्हारे, सर्वदोषप्रसग =सभी दोषो का प्रसग (आ जाता है) । तद्=तो, अनवरतम्=निरन्तर, अन्तर्मग्न सविग्नचित्त भव=अन्तर्लीनता को प्राप्त सवेग-युक्त चित्त वाले हो जाओ, (जिससे), त्वम्=तुम, भवान्तस्थायिधामाधिप.=ससार के विनाश से स्थिरता को प्राप्त (मोक्षरूपी) धाम के स्वामी, भवसि=हो जाओगे ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—निजनिरंजन परब्रह्मस्वरूप से मन थोड़ा भी यदि चलायमान होता है, तो बाहर (पर पदार्थों में भटककर) कष्ट

उठाता है, इस कारण से तुम्हारे लिए सकल दोषों का संयोग होता है; (और)इस कारण से निरन्तर अन्तर्मग्न-सदृश होकर लीन हुए मनवाले हो जाओ जिससे पाँच प्रकार ससार के अवसान से स्थायीरूप वाले शक्तिस्थित निजशुद्धगुणो के अभिव्यक्तिरूप निर्वाणस्थान के तुम अधिपति हो जाओगे।

भावार्थ —मन (उपयोग) के आत्मा में स्थिर होकर रहने पर ही मुक्ति होती है, अन्यथा नही - ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—यहाँ 'मन' से तात्पर्य विकल्पात्मक 'उपयोग' है। जब तक उपयोग शुद्धात्मतत्त्व की सीमा के बाहर है, सासारिक समस्त दोष उस पर लागू होते हैं, अत मन/उपयोग को अन्य विकल्पो से विश्रान्त करके निजनिरजन परमात्मतत्त्व में मर्यादित करने की प्रेरणा योगीन्दु देव ने यहाँ दी है।

अनादि मिथ्यासस्कारवशात् विना किसी विशेष इच्छा या प्रयत्न के जीव में रागादि की उत्पत्ति होती ही रहती है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व से भिन्न ज्ञातृत्व के रूप मे उसने कभी अपने स्वरूप को जाना-पहिचाना और अनुभवा ही नही है, अत सहज परमपारिणामिक भावरूप शुद्ध ज्ञातृत्वस्वरूप मे जीव जब तक दृढ स्थिरता प्राप्त कर पूर्ण वीतरागता प्राप्त न कर ले, तब तक किंचित्मात्र भी स्वरूप से उपयोग चलायमान होने पर रागादि की प्रबलता से आत्मा मे समस्त दोषो की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है (ज्ञानार्णव 31/21,5, योगसारप्राभृत 5/42 43, 9/38-40, 4/7 8, मूलाचार, 52-53), और आत्मसाधना का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

मनो-निग्रह के बिना वीतरागता व मोक्ष की प्राप्ति दुष्कर है (परमात्मप्रकाश 2/140, ज्ञानार्णव, 27वाँ प्रकरण, आराधनासार, 58, 63), इसलिए आ योगीन्दु देव ने प्रस्तुत प्रसग में चित्त को सवेग-भावना से युक्त करते हुए मनोनिग्रह की प्रेरणा दी है। 'संवेग' का अर्थ है सासारिक दु खो से भय (राजवार्तिक-6/24) तथा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के प्रति हर्ष एव उत्साह की अनुभूति (धवला 8/3-पृ० 86, द्रव्यसग्रह, 35 की टीका, पचाध्यायी-II/431)। 'सवेग' वस्तुत विषयों की प्रवृत्ति पर अकुश का कार्य करता है।

उत्थानिका—(तथा चोक्त श्रीसमन्तभद्रस्वामिभि) श्रीसमन्तभद्र-स्वामिगळिनन्ते पेळ्पट्टदेन्दु वृद्धमतसवादमं तोरिदपरु—

> **अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्,**
> **न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।**
> **ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम्,**
> **भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेशोपधिरतः** ॥62॥

टीका—(यद्) आवुदोदु (आश्रमविधौ) समयविधानदोळ् (अणुरपि) किरिदानु (आरम्भः) सावद्यव्यापारमक्कु (सा)आ हिंसे (नास्ति) इल्ल, (तत्र) अल्लि (भूतानाम्) प्राणिगळ (अहिंसा) कोल्लदुदु (ब्रह्म परमम्) परमब्रह्मस्वरूपमक्कुमेदु (जगति) लोकदोळ्(विदितम्) प्रसिद्धमप्पुदु। (तत) अदु कारणदि (तत्सिद्ध्यर्थम्) अहिंसालक्षणपरमब्रह्मसिद्धिनिमित्तं (परमकरुण.) परमकारुण्योपेतनागि (भवानेव) नीने (ग्रन्थमुभयम्) बाह्याभ्यन्तरप्रवर्तमान-क्षेत्र-मिथ्यात्वादि-दश-चतुर्दश-भेदभिन्नोभयपरिग्रहमु (अत्याक्षीत्)तोरदे(विकृतवेशोपधिरतः) विकृतवेशोपधिरत (न च) तोरदेनल्लोम् ।

भावार्थ—निष्परिग्रहगे विकृतवेश घटियिसदेबुदर्थम् ।

उत्थानिका—(वैसा ही श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है) श्री समन्तभद्रस्वामी ने यही प्रदिपादित किया है—ऐसा वृद्धमतसवाद बता रहे है।

खण्डान्वय—भूतानाम् अहिसा=प्राणियो की अहिसा, जगति=लोक मे, परम ब्रह्म=परम ब्रह्म(के रूप में), विदितम्=जानी जाती है/प्रसिद्ध है। यत्र=जहाँ, अणु अपि आरम्भ =अणुमात्र भी आरम्भ (हिसा), अस्ति=विद्यमान है, तत्र आश्रमविधौ=(ऐसी) उस आश्रम-विधि (व्यवस्था) मे, न सा=वह (अहिसा) सभव नही है। तत.=इस-लिए, तत्-सिद्ध्यर्थम्=उस (अहिसा/पूर्ण वीतरागता) की सिद्धि (उपलब्धि) के उद्देश्य से, परमकरुण:=परम करुणा से युक्त, भवान् एव=आप (तीर्थंकर 'नमिनाथ' जिनेन्द्र) ने ही, उभयम् ग्रन्थम्=दोनो (बाह्य व आभ्यन्तर) परिग्रह को, अत्याक्षीत्=त्याग दिया था, न च

विकृतवेशोपधिरत (अत्याक्षीत्) = किन्तु विकृतवेशधारी तथा परिग्रह-धारी (किसी शासनेतर देव) ने नही (त्याग किया है)।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जिस समय विधान (सिद्धान्तविधि) मे थोडा भी सावद्य-व्यापार होता है, ऐसी वह हिसा नही है, वहाँ पर (उस सिद्धान्त/दर्शन मे प्राणियो की अहिसा परमब्रह्मस्वरूप होती है, ऐसा लोक मे प्रसिद्ध ही है। इस कारण से अहिसा लक्षण वाले परम-ब्रह्म की सिद्धि के लिए परमकारुण्य से युक्त होकर आपने (तीर्थंकर नमिनाथ ने) ही बाह्य और आभ्यन्तर प्रवर्तमान क्षेत्र और मिथ्यात्वादि दस और चौदह भेदो वाले दोनो परिग्रहो का त्याग किया है, और (आप) विकृत-वेशों से युक्त नही हुए है।

भावार्थ—निष्परिग्रही व्यक्ति के लिए विकृतवेश घटित (उपयुक्त) नही हो सकते है, ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य वृद्धमतसंवाद (कथन) के रूप मे आचार्य समन्तभद्र की उक्ति है, जिसे यहाँ उद्धृत किया गया है। यह पद्य आचार्य समन्तभद्र की प्रसिद्ध कृति 'बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र' (पद्य स 119, 21/4) में उपलब्ध होता है।

परमब्रह्म की प्राप्ति का अर्थ है—पूर्ण अहिंसकत्व (वीतरागता) की स्थिति को प्राप्त करना, क्योकि रागादि की उत्पत्ति को अमृतचन्द्रा-चार्य ने हिसा कहा है (द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 44)। अतएव मुक्ति के साधको ने हिसा व रागादिवर्धक व्यवधानो (कुवेश व परि-ग्रह आदि) को अपने से दूर किया है। समस्त विकारो व विकारसाधनो मे परिग्रह का स्थान सबसे व्यापक है, अत दश प्रकार के बहिरग व चौदह प्रकार के अन्तरग परिग्रहो का त्याग मुक्ति-साधना मे अति आवश्यक है।

प्रस्तुत पद्यमे परिग्रहत्यागी तीर्थंकर (नमिनाथ) का विशेषण 'परम-करुण' दिया गया है। 'करुणा' आत्मस्वभावभूत धर्म भी है और मोह का चिह्न भी (धवला, 13/5, 5, 48); आत्मस्वभावभूत करुणा को 'परम' विशेषण के साथ प्रयोग किया जाता है। आचार्य विद्यानन्दि ने अष्ट-सहस्री मे कहा है—'समस्त अन्तराय कर्म के क्षीण होने से वीतराग व वीतमोह आत्मा मे स्वाभाविक 'उपेक्षाभाव' तथा अभयदान' स्वरूप प्रकट होता है, जो 'परमदया' (या परमकरुणा) है (आप्तमीमासा)।

उत्थानिका—शरीररति परमयोगिगे दोरेकोळ्ळदेंदु पेळ्दपरु—

बहिरबहिरसारे दुःखभारे शरीरे,
क्षयिणि बत रमन्ते मोहिनोऽस्मिन् वराकाः ।
इति यदि तव बुद्धिर्निर्विकल्पस्वरूपे,
भव, भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥63॥

टीका—(बहिः) पोरगेयु (अबहिः)ओळगेयु (असारे) असारमुं(दुःखभारे) अनेकदुःखभारमु (क्षयिणि) विनाशशीलमुमप्प (अस्मिन् शरीरे) ई शरीरदोळ् (बत) अक्कटा (मोहिन) मोहिगळ् (वराकाः) हीनसत्त्वमप्पवर्गळ् (रमन्ते) रमियिसुवरेंदु, (इति) इंतु (यदि) एल्लियानु (तव बुद्धि) निन्न बुद्धियादपक्ष (निर्विकल्पस्वरूपे) विकल्पातीतनिजस्वरूपदोळ् परिणतनु (भव) आगु। (भवान्तस्थायि) पंचप्रकारसंसारावसानस्थानवर्तियप्प (धाम) निवृत्तिस्थानक्के (त्वम्) नीम (अधिप) स्वामी (भवसि) अप्पे।

भावार्थ—स्वरूप-रसिकगल्लदे शरीर-विरक्तिपुट्टदेंबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—परमयोगी के लिए शरीर में ममकार (ममत्व/रमणत्व) नहीं होता है, यह बता रहे है।

खण्डान्वय—बहि अबहि =बाहर और भीतर, असारे=सारहीन/तुच्छ, दुःखभारे=दुःखो के भार (से लदे हुए), क्षयिणि=विनाशशील, अस्मिन् शरीरे=इस शरीर में, बत=खेद की बात है कि, वराकाः मोहिनः=बेचारे मोहग्रस्त प्राणी, रमन्ते=रमण करते है; इति यदि तव बुद्धिः=इस प्रकार की यदि तुम्हारी बुद्धि/विचारधारा (बनी है तो), निर्विकल्पस्वरूपे भव=निर्विकल्प निजस्वरूप मे (स्थिर) हो जाओ, (जिससे) त्वम्=तुम, भवान्तस्थायिधामाधिपः भवसि=भव-भ्रमण का नाश हो जाने से स्थायित्व को प्राप्त (मुक्तिरूपी) धाम के स्वामी हो जाओगे।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—बाहर में (और)अन्तर में (जो) असारभूत है, अनेक दुःखभाररूप है, विनाशशील स्वभाववान् है, (ऐसे) इस शरीर में, अत्यन्त खेद की बात है कि मोही, हीनसत्त्ववाले प्राणी आनन्द मनाते/रमण करते हैं—ऐसा (शरीर व विषयों के प्रति खेदजनक) यदि

तुम्हारा बुद्धिपक्ष है, तो विकल्पातीत निजस्वरूप में परिणत हो जाओ। (इससे)तुम पच प्रकार के संसार के समापनरूप स्थानवर्ती(स्थितिरूप) निर्वृत्तिस्थान के स्वामी हो जाओगे।

भावार्थ—स्वरूप का रसिक हुए बिना शरीर से विरक्ति नही हो सकती है—ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य में तीन बाते प्रमुख है—प्रथम तो शरीर भीतर और बाहर से तुच्छ व सारहीन है, दूसरी—फिर भी कुछ दया के पात्र अज्ञानी प्राणी इसमें आसक्ति रखते हैं और तीसरी–जो ऐसा(शरीर मे आसक्ति को अज्ञानता का परिणाम) मानते है, वे निर्विकल्प निज-शुद्धात्मस्वरूप में रमण करे, ताकि उन्हे मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

शरीर की तुच्छता व हेयता के सम्बन्ध मे ग्रन्थकार प्रस्तुत ग्रन्थ के पद्य सं 14 मे पर्याप्त सकेत कर चुके है। अपने अन्य ग्रन्थ परमात्म-प्रकाश (2/149-153) में भी उन्होंने उक्त तथ्य की पुष्टि की है। यहाँ पुन: अवशिष्ट शरीर-आसक्ति को भी पूर्णतया समाप्त कर साधना मे ऊर्ध्वारोहण की प्रेरणा उन्होने दी है, क्योंकि ध्यान-साधना की पात्रता के लिए शरीर-अनासक्ति अत्यन्त आवश्यक है (ज्ञानार्णव 5/16)। क्योकि शरीर-आसक्ति के बाह्य विस्तार से बन्धु, मित्र, भार्या आदि सम्बन्ध बढते है और ससार की स्थिति बढती चली जाती है (ज्ञानार्णव, 92/19-21)। निष्कर्षत शरीर मे ममत्व बुद्धि रखने बालो के लिए मुक्ति की प्राप्ति प्राय असम्भव है, अत शास्त्रो में स्थान-स्थान पर शरीर में आसक्ति को नितान्त त्याज्य बताया है।

यहाँ 'वराका:' (बेचारे) पद मोह से पराधीन व्यक्ति की दयनीय दशा को ध्वनित कर रहा है। ज्ञानार्णव मे भी उस साधु को 'वराक' (बेचारा) कहा है, जो विषयो मे आसक्ति के कारण ध्यान, आत्मचितन व तप आदि कोई भी कार्य नही कर पाता है।

टीकाकार ने भावार्थ मे अस्ति-पक्ष का बोध कराते हुए संकेत किया है कि शरीर मे आसक्ति अनादि अज्ञान व मोह के सस्कार से जीव की बनी हुई है, इसे "शरीर में आसक्ति छोडो" इस उपदेश या आदेश के बल पर नही छुडाया जा सकता है, इसके लिए तो निज-शुद्धात्मस्वरूप का रसिक बनना पडेगा। स्वरूप मे आसक्ति का रस ज्यो-ज्यो बढ़ेगा, देह मे आसक्ति वैसे-वैसे कम होती जायेगी।

उत्थानिका—(तदुक्तं तैरेव) अदु पेळ्‌ पट्ट समन्तभद्रदेवर्गळिंदमेंदु पेळ्‌दपरु—

> **अजंगमं जंगमनेययन्त्रम्,**
> **यथा तथा जीवधृतं शरीरम्।**
> **बीभत्सु - पूति - क्षयि - तापकञ्च,**
> **स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः ॥64॥**

टीका—(अजगमम्) तनगे ताने नडेयदु (जंगमनेययन्त्रम्) नडेवरिनेळ्‌य पडुवशकरं (यथा) एण्टु (तथा) अन्ते (जीवधृतम्) जीवनिन्द ताळ्‌देयपट्टुदु (शरीरम्) देह (बीभत्सु) पेसुपत्मु (पूति) कोळ्‌ नारुवुदु (क्षयि) विनश्वरमु (तापक च) दुखम माळ्‌पुदु मत्तमदुकारणदि (अत्र) ई शरीरदोळ्‌ (स्नेह) स्नेहम माळ्‌पुदु (वृथेति) बरिदेयेंदितु (त्वम्) नीम (हितम्) हितमु (आख्य॰) पेळ्‌व-इदुवे भावार्थम्।

उत्थानिका—(वही उन्हीं—समन्तभद्राचार्यदेव के द्वारा कहा गया है) उसी का प्रतिपादन करते हुए समन्तभद्राचार्यदेव के द्वारा यह बताया जा रहा है—

खण्डान्वय—जीवधृतम्=जीव द्वारा धारण किया हुआ, शरीरम्=(यह) शरीर, तथा=उसी प्रकार का है, यथा=जैसे कि, अजंगमम् जंगमनेय-यन्त्रम्=(कोई) जड यन्त्र हो, जो जगम अर्थात् चेतन व्यक्ति द्वारा (प्रवर्तित होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक) ले जाया जाता है, च=और (यह), बीभत्सु-पूति-क्षयि-तापकम्=घृणात्मक, दुर्गन्धित, नश्वर और सन्ताप/कष्टदायक है। अत्र स्नेहः वृथा=इस (ऐसे शरीर) में स्नेह करना व्यर्थ है, इति=ऐसा, हितम्=हितकारी (उपदेश), त्वम् आख्य.=आप (सुपार्श्व जिनेन्द्र) ने कहा है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—अपने आप न चलने वाला, ले जाने वाले के द्वारा ले जाये जाने योग्य—ऐसे यंत्र (रिक्शा आदि वाहन) जैसे (होते हैं), उसी प्रकार जीव के द्वारा धारण किया गया (व इधर-उधर ले जाया जाता हुआ यह) शरीर घृणास्पद है, सड़कर दुर्गन्ध देने वाला है, विनश्वर है, दुःखकारक है; और इस कारण से इस शरीर मे स्नेह करना

वृथा/निष्प्रयोजन है—ऐसा तुमने/आपने हित का प्रतिपादन किया है, यही भावार्थ है।

विशेष—टीकाकार ने देह की नश्वरता तथा देहासक्ति की हेयता के सन्दर्भ मे एक समर्थक प्रमाण-वाक्य के रूप में आ० समन्तभद्र के पद्य को यहाँ उद्धृत किया है। यह पद्य उनकी प्रसिद्ध कृति 'स्वयम्भूस्तोत्र' में तीर्थंकर सुपार्श्व की स्तुति के द्वितीय पद्य के रूप में) निबद्ध है।

कोई भी जड-पदार्थ हित-सम्पादन व अहित-निवारण के कार्य में स्वय प्रवृत्त नही होता है, उसकी प्रवृत्ति किसी चेतन-सत्ता की इच्छा व प्रेरकता पर निर्भर करती है। रथ आदि अचेतन पदार्थ स्वय एक स्थान से दूसरे स्थान तक नही जाते, अपितु उसमे जुते घोड़ो की गति व उसके सचालक सारथि की इच्छा व सकेत आदि के अनुरूप उनका गमनागमन होता है। उपनिषदो मे भी शरीर को 'रथ', व आत्मा को 'रथी' की उपमा दी गई है (द्र० कठोपनिषद् 1/3/3-6, 9, मैत्री उपनिषद्, 2/6)। योगसारप्राभृत (9/51) में आचार्य अमितगति ने भी आत्मा को 'यन्त्रवाहक' की सज्ञा दी है। (इन कथनो से यहाँ आत्मा का परकर्तृत्व व जड-पदार्थों मे क्रियावती शक्ति व परिवर्तनशीलता का अभाव बताने का अभिप्राय न लेकर 'शरीररूपी जडतत्त्व की हेयता प्रदर्शित करना' मूल उद्देश्य समझना चाहिए)। उक्त कथनो से स्पष्ट होता है कि जडदेह की अपेक्षा आत्मा स्वाधीन व श्रेष्ठ है, तथा उसके द्वारा नियन्त्रित होने के कारण देह हीन है, पराधीन है।

उक्त तथ्य के अतिरिक्त देह की हीनता के साथ-साथ उसकी हेयता को पुष्ट करने वाली कुछ और बाते भी यहाँ इगित की गई है। यथा—(1) देह का घृणित स्वरूपवान् होना, (२) दुर्गन्धमय होना, (3) विनश्वर होना तथा (4) रागादि का आश्रयस्थल होने से पीडादायक होना। इन तथ्यों की आ० योगीन्दुदेव के अतिरिक्त अन्य कई अध्यात्मवेत्ताओ ने भी पुष्टि की है (मूलाचार 726-727, इष्टोपदेश-18 आदि)।

इस सन्दर्भ मे आ० योगीन्दु का यह कथन अत्यन्त प्रासगिक हो जाता है कि 'यह शरीर जर्जर नरक-भवन के समान है (योगसार-50), इसलिए मनुष्य की जितनी मानसिक आसक्ति आत्मेतर विषयो में होती है, उतनी यदि अपने स्वरूप के प्रति हो जाये, तो शीघ्र निर्वाण प्राप्त हो जाये। (द्र० योगसार-49, तुलना, ज्ञानार्णव-18/126)।

उत्थानिका—राग-रोषोत्पत्ति-निमित्तमुमं तदुपशमनिमित्तमुमं पेळ्दपरु—

इदमिदमतिरम्यं नेदमित्यादिभेदात्,
विदधति पदमेते राग-रोषोदयस्ते।
तदलममलमेकं निष्कलं निष्क्रिय सन्,
भज, भजसि समाधे सत्फलं येन नित्यम् ॥65॥

टीका—(इदमिदम्)इष्टपञ्चेन्द्रियमप्पिदु (अतिरम्यम्) अतिमनोहर (नेदमित्यादि) ई वेल्तेबुदु मोदलाद (भेदात्) विकल्पदत्तणि (एते) ई (राग-रोषादय) राग-रोषादिगळु (ते) निनगे (पदम्) विभावगळिरवं (विदधति) माड्गु (तदलम्) अदु साल्गु (अमलम्) निर्मलमु (एकम्) अविभागेयु (निष्कलम्) नि शरीरमुमप्प आत्मतत्त्वमं (निष्क्रिय सन्) क्रियारहितमप्पुद (भज) आराधिसु; (येन) आवुदोदात्माराधनेयि (समाधे·) परमसमाधिय (नित्यम्) सनातनमप्प (सत्फलम्) सत्फलम (भजसि) अनुभविसूवे ।

भावार्थ—परमसमाधिजनितानन्दरत राग-द्वेषरहितनक्कुमेंबुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—राग और द्वेष की उत्पत्ति के निमित्तो का, और इनके उपशमन के निमित्तो का प्रतिपादन करते है।

खण्डान्वय—इदमिदम्=यह-यह, अतिरम्यम्=अत्यन्त रमणीय है, (तथा) इदम्=यह, न=(रमणीय) नही है, इत्यादिभेदाद्= इत्यादिरूप (परपदार्थों में हेयोपादेय रूप) भेदबुद्धि से, ऐते=ये, रागरोषादय·=राग-द्वेष आदिक, ते=तुम्हारे (अन्दर), पदम् विदधति=प्रवेश करते है/कदम रखते है/उत्पन्न होते हैं। तत्= इसलिए, अलम्=(इन राग-रोषादिक से) निवृत्त होओ, (और) निष्क्रिय सन्=(पर में) क्रियारहित होते हुए, अमलम्=निष्कलक, एकम्=एक, निष्कलम्=नि.शरीरी (निजात्मतत्त्व को) भज=भजो/ ध्यान करो, येन=जिससे कि, (त्वम्=तुम), समाधे=समाधि के, नित्यम्=अविनाशी, सत्फलम्=श्रेष्ठ फल को, भजसि=भोग सकोगे/ अनुभव करोगे।

हिन्दी अनुवाद (**टीका**)– पञ्चेन्द्रियो को अभीष्ट यह अति मनोहारी है (और) यह सब (मनोहारी) नही हैं—इत्यादि विकल्पो से ये राग-द्वेषादि तुम्हारे लिए विभावो को (उत्पन्न) करते है (अत.) इतना/इन्हे बस करो, निर्मल-अविभागी-नि शरीररूपी आत्मतत्त्व की क्रियारहित होकर आराधना करो, जिस आत्माराधना से (तुम) परमसमाधि के सनातन सत्फल का अनुभव करोगे।

भावार्थ--परमसमाधिजनित आनन्द में निमग्न जीव राग-द्वेष से रहित होते हैं—यह अभिप्राय है।

विशेष- -पूर्व पद्य मे शरीर की अशुचिता व हेयता प्रतिपादित करने के उपरान्त यहाँ कषायो की मूल इष्ट-अनिष्ट कल्पनाओ को त्यागने की प्रेरणा देते हुए शुभाशुभ विकल्पो से पूर्णतः मुक्त होकर निर्विकल्प दशा प्राप्त करने का सदेश योगीन्दुदेव ने दिया है। यह निर्विकल्प स्थिति व 'समाधि', वस्तुत एक ही वस्तु है (परमात्मप्रकाश, 2/190), जिसमें निज परमात्मतत्त्व की निश्चलानुभूतिपूर्वक मुक्ति की प्राप्ति होती है (द्र० समाधिशतक, 35, तत्त्वसार, 61, योगसारप्राभृत, 1/33)।

उक्त स्थिति में पहुँचने के लिए योगीन्दुदेव साधको को 'निष्क्रिय' होकर एक, अखण्ड निष्कल शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति करने की प्रेरणा दे रहे है। यहा 'निष्क्रियता' से तात्पर्य है—'मन-वचन-काय के निरोध से आत्मस्वरूप मे लीनता', जिससे कर्मो की निर्जरा सम्पन्न होती है (तत्त्वसार, 32, परमात्मप्रकाश, 2/38)। सासारिक क्रियाओ व ससार बढाने वाली मन-वचन-काय की सक्रियता/चचलता रूप क्रिया के साथ-साथ विकल्पात्मक उपयोग की अवस्था का भी निषेध यहाँ 'निष्क्रियता' से अभिप्रेत है।

उक्त आत्मलीनता रूप निष्क्रिय अवस्था परपदार्थों से पूर्ण विरक्ति होने पर ही सभव होती है। इसी विरक्ति की उत्पत्ति एव स्थिरता-हेतु शरीरादि की नश्वरता व हेयता का चिन्तन उपयोगी है (तत्त्वार्थसूत्र 7/12), अतएव पूर्व पद्य मे उसका प्रतिपादन किया था।

आ० योगीन्दु देव ने उक्त आत्मसाधना की विधि से 'समाधि के उत्तम फल की प्राप्ति होना' यहाँ निर्दिष्ट किया है। समाधि की अवस्था मे ध्यान, ध्याता और ध्येय--इनका 'समरसीभाव' होता है (तत्त्वानुशासन, 137) अर्थात् इनका भेदात्मक बोध नष्ट होकर अभेद अखण्ड ज्ञायकाकार अनुभव होता है।

उत्थानिका—जटानन्दि-सिहनन्दिदेवरिदमुमदु निरूपिसे पट्टुदेदु वृद्धमतसंवादमं तोरिदपरु—

तावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते, यावद्द्वैतस्य गोचरम्।
अद्वये निष्कले प्राप्ते, निष्क्रियस्य कुत. क्रिया. ॥66॥

टीका—(यावत्) एन्नेवर (द्वैतस्य गोचरम्) द्वैतस्य विषयं; (तावत्) अन्नेवर (क्रिया·) शुभाशुभव्यापाररूपक्रियेगळु (प्रवर्तन्ते) प्रवर्तिसुव। (निष्कले) नि शरीरमुमविभागमुमप्प (अद्वये) अद्वैतं (प्राप्ते) एय्दिदुदादोडे (निष्क्रियस्य) क्रियारहितमप्पुदवके (कुत क्रिया) शुभाशुभ-व्यापाररूपक्रियेयेत्तनदु ?

भावार्थ—निर्विकल्पस्वरूपाराधनये माक्षान्मोक्षहेतुमेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—जटानन्दि-सिहनन्दि (आदि) महापुरुषो के द्वारा निरूपित किये गये उस वृद्धमतसवाद को दिखला रहे है।

खण्डान्वय—यावत्=जब तक, द्वैतस्य गोचरम्=द्वैत सम्बन्धी (इन्द्रियादिजनित) अनुभव होता है, तावत्=तब तक, क्रिया= (शुभाशुभ सकल्प-विकल्पादि आभ्यन्तर तथा शारीरिक वाचिक आदि बाह्य) क्रियाये, प्रवर्तन्ते=प्रवर्तित होती रहती है। अद्वये निष्कले प्राप्ते=अखण्ड/अद्वैत-निष्कल (आत्मतत्त्व की अनुभूति) प्राप्त होने पर, निष्क्रियस्य=निष्क्रिय या निर्विकल्प (दशा को प्राप्त आत्मा) के, कुत क्रिया=(शुभाशुभ) क्रियाओ/कर्मों (की स्थिति) कैसे (हो सकती है ?)।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जब तक द्वैत का विषय है, तब तक शुभ और अशुभ व्यापार रूप क्रियाये (आत्मा मे) प्रवर्तित होती रहती है। (किन्तु) नि शरीरी और अविभागी (एक) अद्वैत (स्वभाव) के प्राप्त हो जाने पर क्रियारहित तत्त्व के शुभ और अशुभ व्यापार रूप क्रियाये कहाँ से होगी ?

भावार्थ—निर्विकल्पस्वरूप की आराधना ही साक्षात् मोक्ष की हेतु है—ऐसा तात्पर्य है।

विशेष— प्रस्तुत पद्य 'वरांगचरित' के कर्ता आ० जटासिंहनन्दिकृत है ऐसी टीकाकार की उक्ति है किन्तु 'वरांगचरित' की किसी भी प्रति मे यह पद्य उपलब्ध नही होता है। 'वरांगचरित' के सम्पादक डा० ए० एन० उपाध्ये ने सम्भावना व्यक्त की है कि प्रस्तुत पद्य आचार्य जटासिंहनन्दि की किसी अन्य कृति का होगा, जो कि अद्यावधि उपलब्ध नही हो सकी है। इस पद्य को परमात्मप्रकाश (2/23) की टीका मे भी ब्रह्मदेवसूरि ने उद्धृत किया है, किंतु वहाँ किसी का नामोल्लेख नही किया गया है।

'निष्कल' पद का अर्थ है— 'कल' (अर्थात् शरीर, मल, काम, बन्धन, बेडी, अंश-भेद) से रहित, अर्थात् अशरीरी, वीतराग, निष्काम, मुक्त, अखण्ड, शुद्ध आत्मा। तथा 'अद्वय' पद निर्विकल्प अनुभूति से प्राप्त होने वाले ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी आदि समस्त भेदों/विकल्पो से रहित शुद्ध ज्ञायक तत्त्व का बोधक है।

उत्थानिका—आनिदेन्नदिदुयेब भावनेयि बन्धक्षणिकमिवेल्ल-मेंबुदरिं मोक्षमक्कुमेंदु पेळ्दपरु—

अहमहमिह मोहाद् भावना यावदन्त:,
भवति भवति बन्धस्तावदेषोऽपि नित्यम् ।
क्षणिकमिदमशेषं विश्वमालोक्य तस्माद्,
व्रज शरणममन्द शान्तये त्वं समाधे ॥67॥

टीका—(अहमहम्) आनानु (इह) ई देशदोळेन्दु (मोहात्) मोहोदयदत्तणिं (भावना) भावने (यावत्) एन्नेवर (अन्त.) अतरंगदोळु (भवति) अक्कु; (तावत्) अन्नेवरं (अपि) मत्ते (नित्यम्) अविचलमागि (एष) परमागमप्रत्यक्षमप्प (बन्ध) कर्मबन्ध (भवति) अक्कुमावुदोदु कारणदि (इदम्) ई काणेपट्ट शरीरादिकम (अशेषम्) अळुविल्लद (आलोक्य) अवलोकिसि (अमन्द.) जडनागदे (त्वम्) नीम (शान्तये) सकलदुरितोपशान्ति-निमित्त (समाधे) परमसमाधियं (शरण व्रज) शरण बोगु ।

भावार्थ—सिद्धोऽहमेंबन्तरजल्प पुण्यहेतुवप्पुदरि निर्विकल्प-समाधिये मोक्षहेतुमेंबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—'यह मै, यह मेरा'—इस भावना से बन्ध होता है, तथा ये सब क्षणिक सम्बन्ध हैं—ऐसा मानने से मोक्ष होता है, यह बता रहे हैं—

खण्डान्वय—यावत्=जब तक, मोहाद्=मोह के उदय के कारण, अहमहम्=मैं-मैं (मैं-मेरा), इति=इस प्रकार की, भावना इह अन्तर्भवति=भावना इस मन में होती रहती है, तावत्=तब तक, एष. बन्ध· अपि=यह बन्ध भी, नित्य·भवति=नित्य/निरन्तर होता रहता है। इदम्=इस, अशेषम् विश्वम्=सम्पूर्ण विश्व को, क्षणिकम् आलोक्य=क्षणभगुर जानकर, त्वम्=तुम, अमन्द—आलस्यरहित (होकर), शान्तये=शान्ति (की प्राप्ति) के लिए, समाधे. =समाधि की, शरणम् व्रज=शरण में जाओ ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—'मैं-मै'—इस देश/क्षेत्र मे मोह के उदय से ऐसी भावना जब तक अन्तरग मे होती है, तब तक फिर अविचलरूप से

यह परमागमप्रत्यक्षरूप कर्मो का बन्ध भी होता रहता है। इसलिए इन दृश्यमान शरीरादिको को सम्पूर्णत समझकर, जडता समाप्त कर तुम सकल दुरित की उपशान्ति के लिए परमसमाधि की शरण में जाओ।

भावार्थ—'मैं सिद्ध हूँ'—इस अन्तर्जल्प के पुण्य-हेतुरूप होने से, निर्विकल्पसमाधि ही मोक्ष का कारण है—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—'समाधि' साधन है और 'शान्ति' साध्य। तथा 'अहभाव का त्याग' पात्रता प्रकट करने का तरीका है। साथ ही विश्व (संसार) की क्षणभगुरता का बोध सहकारी भाव है। अर्थात् अहंभाव को छोड-कर, ससार को क्षणभगुरता का विचार करते हुए निर्विकल्प-समाधि की दशा प्राप्त करके परमशान्ति की प्राप्ति करना चाहिए।

वस्तुत आध्यात्मिक संतो व महापुरुषो के प्रतिपादनो का मूल उद्देश्य परमशान्ति की प्राप्ति कराना ही होता है। बौद्ध दार्शनिक व नाटककार आचार्य अश्वघोष ने भी अपनी कृति 'बुद्धचरितम्' महाकाव्य का उद्देश्य बताते हुए लिखा है—"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृति"—अर्थात् इस कृति का उद्देश्य उत्कृष्ट शान्ति की प्राप्ति कराना है, जन-मन-रंजन के लिए मेरी रचना नही है। जैन सतो व मनीषियो ने तो आत्मा के विषयक विकल्पात्मक चितन व ज्ञान को भी प्रकारान्तर से शान्तिभग करने वाला माना है, अत वे स्वतत्त्व की अनुभूति रूप परमशान्ति के अनुभव के लिए उसके बारे मे कही गयी या विचारी गई बात को भी स्वीकार करने को तैयार नही है।

अहकार व ममत्व—ये कर्मबन्धन के ही हेतु है। अनात्म पदार्थों मे अपना अभेदादि सम्बन्ध स्थापित कर 'मै राजा हूँ, मै पुरुष हूँ, मैं गोरा हूँ, मै निरोगी हूँ'—इत्यादि भाव 'अहभाव' कहलाते है, और अन्य वस्तु को अपने अधिकार मे रखने की चाह 'ममत्व' भाव है। ये दोनो ही भाव मूढदृष्टि के चिह्न हैं (समाधिशतक, 56, समयसार, 326), मोहराजा के दोनो सेनापति है (तत्त्वानुशासन, 13)। इन्ही के कारण रागादि विकारो का प्रादुर्भाव होता है। पद्मनदि पचविंशति (3/49) मे 'मै-मै' रूप अहभाव करने वाले को पशु की सज्ञा दी है। अत इनके विनाश के लिए अनात्मभूत समस्त ससार की क्षणभगुरता का चितन करने की प्रेरणा दी है, ताकि जीव इनसे अहभाव व ममत्व-भाव छोडकर समाधि की शरण ग्रहण करके परम शान्तिरूप मुक्ता-वस्था को प्राप्त कर सके।

उत्थानिका—(तदुक्तं श्रीमदकलकदेवै) श्रीमदकलंकदेवरिंदमुमदु पेळ्पट्ट वृद्धमतसवादमं तोरिदपरु—

> **साहंकारे मनसि न शम याति जन्मप्रबन्ध.,**
> **नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम्।**
> **अन्य शास्ता जगति न यतो नास्ति नैरात्म्यवादी,**
> **नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्ग** ॥ 68 ॥

टीका–(साहकारे मनसि) नानिदेबहकारदि कूडिद मनदोळगे (जन्मप्रबन्ध:) पचप्रकारससारानुबन्ध(न शमं याति) उपशमक्के सल्लदु, (आत्मदृष्टौ च) निजात्मावलोकन मत्ते (सत्याम्) विद्यमानमादोड (अहकार) नानिदेबहकार (हृदयात्) मनदत्तणि (न चलति) तेरळदु, (अन्य) मत्तोर्व (नैरात्म्यवादी) शून्यवादी (जगति) लोकदोळ् (शास्ता) शिक्षक (नास्ति)इल्ल। (यत·)आवुदोदु कारणदि,(तस्मात्)अदु कारणदि (उपशमविधे) दुरितोपशमविधिये (त्वन्मतात्) अवर्गळ मतदत्तणि (अन्य) मत्तोंदु (मार्ग) बट्टे (नास्ति) इल्ल।

भावार्थ—इल्लिग पूर्वसूत्रोक्तमे तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—श्रीमदकलकदेव के द्वारा इसी का प्रतिपादन करते हुए यह वृद्धमतसंवाद दिखाया जा रहा है।

खन्डान्वय—यत =चूंकि, साहकारे मनसि=मन मे अहकार का भाव (रहने पर), जन्मप्रबन्ध =जन्म-(मरणरूप ससार) की परम्परा, न शम याति=शान्त (समाप्त) नही होती है, च=और, आत्मदृष्टौ सत्याम्=आत्मदृष्टि (सम्यक्त्व) होने पर, हृदयात्=हृदय से (उपयोग में), अहकार न चलति=अहकार (अहबुद्धि व ममबुद्धिभाव)गतिशील नही होता है, च=और, जगति=इसलोक मे, नैरात्म्यवादी अन्य: शास्ता=शून्यवादी कोई दूसरा उपदेशक, नास्ति=नही है। तस्माद्= इसलिए, उपशमविधे =ससार-बन्ध के उपशम का, त्वन्मताद् अन्य = तुम्हारे मत (सिद्धान्त) से भिन्न (कोई), मार्ग न अस्ति=मार्ग नही है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—'यह मै'—ऐसे अहकार से युक्त मन मे पाँच प्रकार के ससार का अनुबन्ध उपशम को प्राप्त नही होता है, तथा निज आत्मा का अवलोकन विद्यमान होने पर 'मै यह'—ऐसा

अहकार मन से चलायमान नही होता है। अन्य कोई शून्यवादी इस लोक मे शिक्षक (सिखाने वाला) नहीं है। चूकि (ऐसा है), इसलिए दुरित के उपशमन की विधि का आपके मतानुसार अन्य कोई मार्ग नही है।

भावार्थ—यहाँ पर भी पूर्वसूत्रोक्त ही तात्पर्य है।

विशेष—अहम्भाव नष्ट हुए बिना जन्म-मरण का चक्र कभी समाप्त होने वाला नही है, और अहम्भाव ज्ञायकतत्त्व निजशुद्धात्मा के दर्शन/अनुभव के बिना निर्बाध रूप से चलता रहता है, अत अहम्भाव को नाश कर जन्म-जरा-मृत्यु के दु खो से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय आत्मानुभूति ही है-- यह योगीन्दुदेव का यहाँ मन्तव्य है। अब प्रश्न यह है कि इस आत्मानुभूति के लिए कोई पथ-प्रदर्शक या शिक्षक भी तो चाहिए, जो अनादि मिथ्यासंस्कारवासित चित्त को विकारो व अहम्भाव से हटाकर आत्मतत्त्व की महिमा से मंडित कर सके, तभी तो जीव आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए उद्यत होगा। इसका समाधान उन्होने दिया कि ऐसे उपदेशक तो जिनेन्द्रदेव ही है, अत जिनेन्द्र देव के सिद्धान्त/मत के अतिरिक्त दुरितकर्मों के उपशमन का अन्य कोई मार्ग सम्भव ही नही है।

'नैरात्म्यवाद' मे आत्मा से अभिप्राय रागादि कषायमुक्त मन की स्थिति से है। जो इनसे रहित आत्मा को बताये, वह नैरात्म्यवादी। आ पूज्यपाद ने 'आत्मा' का अर्थ 'रागादि-अपरिणत, कषाय-विक्षेप-रहित मन की स्थिति' किया है (द्र समाधिशतक, 36 व टीका)। बहिरात्मा आदि पदो मे आगत 'आत्मा' का (मिथ्यात्व-रागादि युक्त) चित्त या मन अर्थ ग्रहण किया गया है (द्र तत्त्वसार, गाथा 48 पर कमलकीर्तिकृत सस्कृत टीका)। जैन अध्यात्म ग्रन्थो में समाधि की उच्चस्थिति तथा निर्मनस्कता या निरात्मता को परस्पर सम्बद्ध माना गया है (आराधनासार, 71 व टीका)।

टीकाकार ने 'नैरात्म्यवादी' का अर्थ 'शून्यवादी' किया है। योगीन्दु ने भी 'आठ कर्मो व अट्ठारह दोषो से रहित आत्मा को 'शून्य' कहा है' (परमात्मप्रकाश, 1/55)। अन्यत्र भी पाप-पुण्य आदि विकारी भावो व ध्यान-ध्याता आदि विकल्पो से रहित आत्मस्थिति को 'शून्य' कहा गया है।

उत्थानिका—चिन्मयज्योतिरूपनप्पात्मन लोकमेके कारणदेंदु पेळ्दपरु—

> **रविरयमयमिन्दुर्द्योतयन्तौ पदार्थान्,**
> **विलसति सति यस्मिन् नासतीमौ तु भात.।**
> **तदपि बत हतात्मा ज्ञानपुञ्जेऽपि तस्मिन्,**
> **व्रजति महति मोहं हेतुना केन कश्चित्** ॥ 69 ॥

टीका—(अयं रवि) ई सूर्यनु (अयमिन्दु) ई चन्द्रनु (यस्मिन् सति) आवनोर्वात्मनोळनागुत्तमिरे (विलसति) उप्पुगु (असति) आत्मस्वरूप-मिल्लदोडे (पदार्थान्) घट-पटादिपदार्थंगळ (द्योतयन्तौ) प्रकाशि-सुवरागियु (इमौ) ई चन्द्रादित्यर (तु) मत्ते (न भात.) उप्पुवरल्लरु। (तत्) अदु कारणदि (अपि) मत्ते (वत) अक्कटा (कश्चित्) आवनोर्व (हतात्मा) हलकनप्पात्म (ज्ञानपुजेऽपि तस्मिन्) ज्ञानपुजमप्पा निजात्म-स्वरूपदोळ् (केन हेतुना) आवुदोदु कारणदिं (महति मोहम्) पेर्च्चिद मोहक्के (व्रजति) सल्गुम्।

भावार्थ—जगज्ज्योतिरूपनप्पात्मनिल्लदोडे चन्द्रादित्यरेनं बिळगलार्परेबुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—चिन्मयज्योतिरूप आत्मा को बताना ही मूल हेतु है, ऐसा बताते है—

खण्डान्वय—अय रवि , अयम् इन्दु =यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) सूर्य और चन्द्र, यस्मिन् विलसति सति=जिस (आत्मा) के प्रकाशमान होने पर ही, पदार्थान् द्योतयन्तौ=पदार्थो को प्रकाशित कर (ने में समर्थ हो) पाते है। तु=किन्तु, असति=(जिस आत्मा के प्रकाशमान) न होने पर, इमौ न भात =ये दोनो (सूर्य-चन्द्र) प्रकाशक नही (होते हैं)। तत्=इसलिए, बत=अत्यन्त खेद की बात है (कि), तस्मिन् महति ज्ञानपुजे अपि=उस महान् ज्ञान (रूपी प्रकाश) के पुज (परमात्मतत्त्व के सम्बन्ध) में भी, कश्चित् हतात्मा=कोई हतभाग्य व्यक्ति, केन हेतुना=क्या कारण है कि, मोह व्रजति=मोह/अज्ञानता को प्राप्त हो जाता है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—यह सूर्य, यह चन्द्रमा, जिस आत्मा के

रहने पर ही शोभित होते हैं (तथा) आत्मस्वरूप में न रहने पर घट-पट आदि पदार्थों को प्रकाशित करते हुए भी ये चन्द्र-सूर्य आदि भी सुशोभित नही होते हैं, इस कारण से, अत्यन्त खेद है कि कोई हतकरूप आत्मा ज्ञानपुजरूप इस आत्मस्वरूप मे किस कारण से अत्यन्त मोह को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जगज्ज्योतिरूप ऐसा आत्मा न हो तो चन्द्रमा और सूर्य आदि ये किसको प्रकाशित करेगे ? ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—लोक मे सूर्य व चन्द्रमा आदि भले ही प्रकाशपुज के रूप मे जाने जाते हो, परन्तु विश्वप्रकाशक अचिन्त्यशक्ति ज्ञानतत्त्व की अनन्त आभा के समक्ष ये अत्यन्त महत्त्वहीन सिद्ध होते है—ऐसा भाव यहाँ व्यक्त किया गया है, जिसका अभिप्राय ज्ञानस्वभावी आत्मा की महिमा जताना है।

वस्तुत स्थिति भी ऐसी ही है कि जो आतप (सूर्य का) या उद्योत (चन्द्रमा, मणि आदि का) रूप प्रकाश की अवस्थाये हैं, वे वस्तुत. पुद्गलपरिणाम होने से स्वय ही ज्ञानरहित है, फिर अन्य किसी पदार्थ का बोध कराना या उसे प्रकाशित करना उनके द्वारा कैसे सम्भव हो सकता है ? तथा पुद्गल के परिणाम का सीमा-क्षेत्र भी पुद्गल तक ही है, अत यदि प्रकाशरूप पर्याय से व्यवहारदृष्ट्या किसी को प्रकाशित माना भी जाये, तो वे चन्द्रमा और सूर्य मात्र पुद्गल को ही प्रकाशित कर सकते हैं, विश्व के अवशिष्ट जीवादि पाँच द्रव्यों को नही, क्योंकि वे अरूपी है, और रूपी द्रव्य की पर्याय का अरूपी द्रव्य के प्रकाशन मे उपचार भी लागू नही होता है। अत निश्चयदृष्ट्या तो सूर्य-चन्द्रमा के द्वारा पदार्थों का प्रकाशन सम्भव ही नही है और व्यवहार दृष्ट्या माना भी जाये, तो उसका क्षेत्र मात्र जड पदार्थों तक सीमित होने से वह चेतनसत्ता के लिए अकिंचित्कर होने से उपादेय कतई नही हो सकते। जबकि चेतन तत्त्व अनन्त ज्ञानशक्ति का पुज है, जिसकी एक समयवर्ती केवलज्ञान पर्याय लोकालोक के समस्त पदार्थों को व उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को युगपत् प्रकाशित करने मे समर्थ है। और ऐसी केवलज्ञान की अनन्तानन्त पर्यायो का जनक आत्मा का एक ज्ञान नामक गुण है, और ज्ञानादि अनन्तगुणों का निधान यह आत्मा है, अत इसकी महिमा के आगे सूर्य-चन्द्रमा आदि तो पर्वत व राई के बराबर भी साम्य नही रखते हैं।

उत्थानिका—(तथा चोक्तं श्री कोण्डकुन्दाचार्यदेवैः) श्री कोण्ड-कुन्दाचार्यदेवरिदमते निरूपिसे पट्टदेदु वृद्धमतसवादम तोरिदपरु—

यो लोकं ज्वलयत्यनल्पमहिमा सोऽप्येष तेजोनिधिः,
यस्मिन् सत्यवभाति नासति पुनर्देवोंऽशुमाली स्वयम्।
तस्मिन् बोधमयप्रकाश - विशदे मोहान्धकारापहे,
येऽन्तर्यामिनि पूरुषेऽप्रतिहते संशेरते ते हता ॥ 70 ॥

टीका—(अनल्पमहिमा) पेर्च्चिद महिमेयनुळ्ळ (य) आवनोर्वं (लोकम्) तिर्यग्लोकम (ज्वलयति) तीक्ष्णकरगळि बेळगुगु, (सोऽपि) आतुनु (एष) ई प्रत्यक्षमप्प (तेजोनिधि) तीक्ष्णकिरणागलेडेयादनु (देव) देवगतिनामकर्मोदयदि देवनुमज्ञानिजनगळिगे मेण देवनुमप्प (अंशुमाली) भास्कर (स्वयम्) ता (पुन) मत्ते (यस्मिन् सति) आवनोर्व चिन्मयज्योतिरूप निजात्मनोळनागुत्तमिरे (अवभाति) बेळगुगु, (असति) इल्लागुत्तमिरे (नावभाति) बेळगलारनदु कारणदि (बोधमयप्रकाशविशदे) सकल-विमल-केवलज्ञानात्मक प्रकाशविस्तीर्णमु (मोहान्धकारापहे) दर्शन-चारित्रमोहध्वान्तापहमु (अन्तर्यामिनि) स्वान्तरग-निशेयु (पूरुषे) पुरुषाकारसामर्थ्यमु (अप्रतिहते) निरन्तराय-मुमप्प (तस्मिन्) आ परमज्योतिरूपदोळु (ये) आर्केलबरु (सशेरते) मरदोरगिदरु, (ते) अवरगळु (हता) केट्टरु।

भावार्थ—निज-निरजन-परमात्म-प्रकाशमुपादेयमेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—(वही श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी कहा है) श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा (माध्यम से) यही निरूपण करते हुए यह वृद्धमतसवाद बता रहे है।

खण्डान्वय—अनल्पमहिमा=अत्यधिक महिमाशाली, य=जो, लोक ज्वलयति=(इस तिर्यक्/मध्य) लोक को (अपनी तीक्ष्ण किरणों से) जलाता है, स अपि एष=वह भी यह, स्वय तेजोनिधि. अशुमाली देव=स्वय ज्योति पुज सूर्यदेव. अपि=भी, यस्मिन् सति=जिसके रहने पर, अवभाति=प्रकाशमान होता है, असति न=(और जिसके) न रहने पर (प्रकाशमान) नही (होता), तस्मिन्=उस, बोधमयप्रकाश-विशदे=ज्ञानात्मक प्रकाश से विस्तीर्ण (लोकव्यापी), मोहान्धकारापहे

=मोह/अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर भगानेवाले, अप्रतिहते= अप्रतिहत/अबाधित सामर्थ्यवाले, अन्तर्यामिनि पूरुषे=(देह के) अन्तर मे विद्यमान पुरुष (आत्मा) के सम्बन्ध में, ये संशेरते=जो सुप्त/प्रमाद-युक्त है (अज्ञानभाव रखते हैं), ते हता=वे हतभाग्य हैं / (कर्मबन्धन के कारण) विनाश को प्राप्त होते है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—अत्यन्त महिमायुक्त जो तिर्यग्लोक को अपनी तीक्ष्ण किरणो से जलाता है / प्रकाशित करता है, वह भी यह प्रत्यक्षरूपी, तीक्ष्ण किरणो का पुज, देवगतिनामकर्म के उदय से देवरूप अथवा अज्ञानीजनो के लिए देवतास्वरूप सूर्य, स्वय यदि जो चिन्मय-ज्योतिरूप निजात्मा मे लीन होने पर प्रकाशित होता है, (और), लीन नही होने पर प्रकाशित नही होता, इस कारण से सकल-विमल केवलज्ञानरूप प्रकाश के विस्तार से युक्त (और) दर्शन व चारित्र मोहनीयरूपी अन्धकार के नाशक उस परमज्योति को भूलकर जो सो जाते है, वे नष्ट होते है/हुए है।

भावार्थ—निज-निरजन परमात्मा का प्रकाश उपादेय है, ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—पूर्वपद्य के भाव का सूचक यह छन्द टीकाकार के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द की उक्ति है, किन्तु ये कुन्दकुन्द या कोण्डकुन्द कौन-से है, यह निश्चित नही है। समयसारादि ग्रन्थों के कर्ता महान अध्यात्मवेत्ता आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो में तो यह छन्द प्राप्त होता नही है। हाँ, आचार्य विद्यानन्दि ने आप्तपरीक्षा नामक ग्रन्थ (कारिका 86) में 'तदुक्तम्' कहकर इसे उद्धृत किया है, तथा कर्ता का निर्देश वहा उन्होने नही किया। यदि यह पद्य प्रख्यात आचार्य कुन्द-कुन्द का होता, तो वे आदर के साथ उनका नामोल्लेख अवश्य करते।

पूर्वपद्य के अनुरूप ही इस पद्य का भाव है। जैसे नेत्रहीन व्यक्ति के लिए सूर्य का उगना या न उगना समान है, क्योंकि वह उसे देख ही नही सकता है, वस्तुत उसके लिए तो प्रकाश-पुज के रूप में सूर्य का कोई अस्तित्व ही नही है। इसी प्रकार यदि ज्ञान जाने नही तो सूर्य का प्रकाशित होना व्यर्थ है, इस प्रकार ज्ञान की विशेष महिमा यहाँ बतायी गयी है। ऐसे मोहान्धकार के नाशक ज्ञान-ज्योति के पुज आत्मतत्त्व (प्राप्त-शरीर मे ही विद्यमान होने पर भी) के प्रति जो प्रमाद युक्त है, वे वस्तुत हतभाग्य ही कहलायेगे।

उत्थानिका— आत्म-परिज्ञान-विधान-निरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम्—

> **करणजनितबुद्धिर्नेक्षते मूर्ति-मुक्तम्,**
> **श्रुतजनितमतिर्याऽस्पष्टमेयावभासा।**
> **उभयमतिनिरोध - स्पष्टमत्यक्षमक्षम्,**
> **स्वमधिवस निवासं शाश्वतं लप्स्यसे त्वम्** ॥71॥

टीका—(करणजनितबुद्धि) पचेन्द्रियजनितमति (मूर्तिमुक्तम्) अमूर्तवस्तुवं (नेक्षते) काणदु (श्रुतजनितमतिर्या) श्रुतजनितमप्पावुदोंदु बुद्धि (अस्पष्टमेय) अव्यक्तज्ञेयम (अवभासा) प्रकाशिसुगु। (उभयमतिनिरोध) इन्द्रिय-श्रुत-जनित-द्विविधबुद्धिनिरोधमागुत्तिरे (स्पष्टम्) स्वसंवेदनप्रत्यक्षमु (अत्यक्षम्) अनीन्द्रियस्वरूपनुमप्प (अक्ष स्वम्) निजात्मान (अधिवस) पोद्दिरु। (त्वमपि) नीम मत्ते (शाश्वतम्) अविनश्वरमप्प (निवासम्) मुक्तिनिवासम (लप्स्यसे) पडेवे।

भावार्थ—अनन्तसुखहेतुवप्पुदरि स्वसवेदनज्ञानमुपादेयमेबुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—आत्मा के परिज्ञान का विधान बताने के लिए प्रस्तुत छन्द है—

खण्डान्वय—करणजनितबुद्धि = इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न या इन्द्रियाधीन ज्ञान, मूर्तिमुक्तम् = अमूर्त (आत्म) तत्त्व को, नेक्षते = नही देख सकेगा। (और) या = जो, श्रुतजनितमति = श्रुतावरणकर्म के क्षयोपशम (अथवा जिनवाणी के अभ्यास से) जनित जो बुद्धि (है, वह), अस्पष्टमेयावभासा = (ज्ञेयो का) पूर्णस्पष्ट व निर्मल अवभासन नही करा पाती है। (अत इन) उभयमतिनिरोध-स्पष्टम् = (पूर्वोक्त) दोनो प्रकार की बुद्धियों का निरोध करने पर स्पष्टता को प्राप्त, अत्यक्षम् स्वमक्षम् = इन्द्रियातीत (ऐसे) निजात्मतत्त्व में, अधिवस = निवास करो, (जिससे), त्वमपि = तुम भी, शाश्वतम् = अविनाशी, निवासम् = निवास (मोक्ष) को, लप्स्यसे = प्राप्त करोगे।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—पञ्चेन्द्रियो से उत्पन्न बुद्धि अमूर्तवस्तु को देखती नही है, (और) जो श्रुत से प्राप्त हुई बुद्धि है, (वह) अव्यक्त ज्ञेयरूप को प्रकाशित कर पाती है। (अत) इन्द्रियजनित और श्रुत-

जनित, दोनो प्रकार की बुद्धियो का निरोध करने पर/होने पर, स्वसवेदन-प्रत्यक्ष अतीन्द्रियस्वरूप वाले निजात्मा को प्राप्त करो (और इससे) तुम भी अविनश्वर मुक्तिरूपी निवास को प्राप्त करोगे।

भावार्थ-- अनन्तसुख के कारणभूत होने से स्वसवेदनज्ञान (ही) उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है।

विशेष--यहाँ पर मति और श्रुतजनित बुद्धियों से अमूर्त आत्मतत्त्व का ग्रहण असम्भव बताया है, तथा अवधिज्ञान व मन पर्ययज्ञान तो मूर्तपदार्थों को ही विषय करते है (तत्त्वार्थसूत्र 1/27-28), तथा केवली अवस्था तो आत्मसाधना का फल है, तब उसके पूर्व आत्मसाधना या आत्मानुभव कैसे होगा ? क्योकि उसके बिना तो मोक्षमार्ग मे प्रवर्तित हुआ नही जा सकता है।

इसका समाधान है—स्वसवेदन ज्ञान, जिसके द्वारा आत्मतत्त्व का प्रत्यक्षवत् अनुभव सम्भव है (द्र० इष्टोपदेश, 2, समाधिशतक, 24, योगसारप्राभृत, 9/48, पद्मनन्दिपचविंशति, 4/58, समयसार-कलश, 246)। इस 'स्वसवेदन' को 'मानस अचक्षुदर्शन' या 'भावश्रुत-ज्ञान' भी कहते है (धवला, 1/1/131 पृ० 384, नयचक्र, 349-350, प्रवचनसार, 3/25 पर तत्त्वदीपिका, अनगारधर्मामृत, 8/1,92 पर स्वोपज्ञ टीका)। 'स्वसवेदन' से त्रिकाली आत्मा का सचेतन होता है (धवला, 1/1/4 पृ० 146, समयसार, 90 पर तात्पर्यवृत्ति)। यह 'स्वसवेदन' अन्तर्मुखी वृत्ति में स्थित तथा इन्द्रिय-व्यापार-विरत योगी को 'वीतराग परमसमाधि' की अवस्था मे होने वाला 'शुद्ध' ज्ञान है (तत्त्वसार, 39 की टीका, योगसारप्राभृत 1/33), जो निज परमात्म-तत्त्व का स्पष्ट अनुभव कराता है (समाधिशतक, 30, योगसारप्राभृत 1/45)। 'नयचक्र' (390) में इस स्वसंवेदनरूप भावश्रुतज्ञान से आत्मा का 'प्रत्यक्ष' स्फुरण होना वर्णित है। किन्तु समग्रत. यह इन्द्रिय-जनित ज्ञान की अपेक्षा 'प्रत्यक्ष' है, तथा केवलज्ञान की अपेक्षा 'परोक्ष' है (समयसार, सवराधिकार में गाथा 189 के बाद दो प्रक्षिप्त गाथाओ पर तात्पर्यवृत्ति टीका, द्रव्यसग्रह, 5 पर टीका)। आ० योगीन्दु देव ने भी इस वीतराग निर्विकल्प स्वसवेदनज्ञान को 'महाज्ञान' की सज्ञा दी है, और इसके बिना मोक्षप्राप्ति असम्भव बतायी है (परमात्म-प्रकाश, 1/122 टीका)।

मति व श्रुतजनित विकल्पात्मक बुद्धियो को निरुद्ध कर, आत्माभिमुख करते हुए क्रमश· निर्विकल्पता की स्थिति प्राप्त की जा सकती है, जिसका संकेत आ० अमृतचन्द्र ने (समयसार, 144 पर आत्मख्याति टीका में) किया है।

आ० योगीन्दुदेव का यहाँ अभिप्राय निश्चय धर्मध्यान में अग्रसर होने की प्रेरणा देना है। क्योंकि उसमें सकल विकल्पो का त्याग व आत्मस्वरूप में एकाग्रता सम्पन्न होती है (द्र० आराधनासार, 84 टीका)। दिगम्बर आचार्यों ने इस पचमकाल मे भी, और चतुर्थगुणस्थान मे भी, शुद्धात्मभावना या शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप धर्मध्यान का सद्भाव माना है (देखे —वृ० द्रव्यसग्रह, 34, 48 पर टीका, तत्त्वानुशासन, 46, 83-86, मोक्षप्राभृत, 73-77, प्रवचनसार, 1.54 पर तात्पर्यवृत्ति, समयसार, 320 पर तात्पर्यवृत्ति, राजवार्तिक, 9/36/13; धवला, 13/5, 4, 26 पृ० 74)। शुक्लध्यान की तरह धर्मध्यान से भी स्वात्मदर्शन होता है, भले ही शुक्लध्यान की तुलना मे इसमें विशुद्धि की मात्रा कम हो (तत्त्वानुशासन, 180)।

'शाश्वत' पद परमात्मावस्था का वाचक है, इस स्थिति मे प्राप्त होने वाला सुख भी शाश्वत कहा गया है (परमात्मप्रकाश, 2/11, नियमसारकलश, 258)। अत 'शाश्वत' पद के द्वारा सिद्धावस्था तथा परम-उत्कृष्ट मोक्ष-सुख की प्राप्ति यहाँ संकेतित की गयी है।

उत्थानिका—परमब्रह्मस्वरूपदोळिरदोडेतप्पुवेल्लमप्पुवेदु पेळ्-दपरु—

प्राणापानप्रयाण कफ-पवन-भवव्याधयस्तावदेते,
स्पन्दो दृष्टेश्च तावत् तव चपलतया न स्थिराणीन्द्रियाणि ।
भोगा एते च भोक्ता त्वमपि भवसि हे ! हेलया यावदन्त,
साधो ! साधूपदेशात् विशसि न परमब्रह्मणो निष्कलस्य ॥72॥

टीका—(हे साधो !) एले तपोधना ! (साधूपदेशात्) समीचीनो-पदेशदत्तणि (निष्कलस्य) कलातीतमप्प (परमब्रह्मण) परमब्रह्मद (अन्त) वोळग (यावत्) एन्नेवरं (हेलया) लीलेयि (न विशसि) पुगुवेयल्ले, (तावत्) अन्नेवरं (प्राणापानप्रयाण) उच्छ्वास-निश्वास-पवन-गमनमु (एते कफ-पवन-भव-व्याधय) ई श्लेष्म-वात-समुद्भूत-व्याधिगळु (स्पन्दो दृष्टेश्च) नयनगळस्पन्दनमुमक्कु । (तावत्) अन्नेवर (तव) निनगे (चपलतया) कपि-हृदयदवोलति-चपलतेयि (इन्द्रियाणि) पञ्चेन्द्रियगळु (न स्थिराणि) नेळगुल्लवु, (एते च भोगा) ई पञ्चेन्द्रिय भोगगळु (भोक्ता) अनुभविसे पडुववप्पुवु ।

भावार्थ—निजपरमब्रह्मानुभूतिकालदोळु विभावपरिणामक्केडे इल्लेबुदु तात्पर्यम् ।

उत्थानिका—परमब्रह्मस्वरूप को प्राप्त न कर सकने पर क्या स्थिति होती है ? वह बता रहे है।

खण्डान्वय—हे साधो !=हे साधु ! साधूपदेशात्=समीचीन (धर्म) उपदेश (प्राप्त करने) से, निष्कलस्य परमब्रह्मण =निष्कल परमब्रह्म के, अन्त =अन्दर, यावत्=जब तक, हेलया=क्रीडा मात्र से/सहजता के साथ, न विशसि=प्रविष्ट नही होते, तावत्=तब तक, तव= तुम्हारे, प्राणापानप्रयाण =उच्छ्वास-निश्वास का आवागमन (होता रहेगा), एते कफ-पवन-भव-व्याधय =कफ व वायु (विकारो) से होने वाली ये व्याधिया (होती रहेगी), दृष्टे स्पन्दन च=आँख का स्पन्दन (खुलना व झपकना) भी (होता रहेगा), चपलतया=चंचलता के कारण, इन्द्रियाणि स्थिराणि न=इन्द्रियाँ स्थिरता (को प्राप्त) नही (हो सकेगी), एते भोगा च=ये (पचेन्द्रियो के) भोग भी (प्रस्तुत रहेगे,

और), त्व भोक्ता अपि भवसि=तुम (उन भोगो के) भोक्ता भी बने रहोगे।

हिन्दी अनुवाद (**टीका**)—हे तपोधन! समीचीन उपदेश के द्वारा शरीरातीत ऐसे परमब्रह्म के भीतर जब तक लीलापूर्वक प्रवेश नही करोगे, तब तक उच्छ्वास और नि श्वास के पवन का गमन (और ये) श्लेष्म, वायु से होने वाली व्याधियाँ (और) आँखो का स्पन्दन, ये (सब) होते रहेगे (और) तब तक बन्दर के मन/चित्त की तरह चंचलता के कारण पाँचों इन्द्रियाँ स्थिर नही हो सकेगी (और) इन पचेन्द्रियों के भोगों को भोगते रहोगे (भोगना पडेगा)।

भावार्थ—निज परमब्रह्म की अनुभूति के समय मे विभाव-परिणाम की कोई सम्भावना नही है, ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—अनादि कालीन ससार-चक्र में परिभ्रमण करते हुए जीव ने उत्कृष्टतम, तथा निकृष्टतम भोग भोगे हैं, अब यह विचार कर यदि ससार-शरीर व भोगों से विरक्तिरूप मोक्ष की पात्रता प्रकट हुई हो, तो उस पात्र जीव को परमब्रह्म में सुगमतापूर्वक प्रवेश कर लेना चाहिए।

'परमब्रह्म' से तात्पर्य है—चिच्चमत्कारमात्र, निर्विकल्प, निजशुद्धात्मतत्त्व (द्र०, परमात्मप्रकाश, 1/112 व टीका, योगसार-प्राभृत, 8/90, ज्ञानार्णव, 29/8, नियमसार, 180 पर तात्पर्यवृत्ति तथा कलश, 301)। निर्विकल्प निष्कल परमब्रह्म के साक्षात्कारकी प्रक्रिया में पचेन्द्रियो व मन की क्रियाओ/विकल्पो का व्यापार रुक जाता है, और ससार के काम-भोगो मे रहते हुए भी साधक का 'भोक्तृत्व भाव' समाप्तप्राय हो जाता है। चूंकि यह स्थिति शुद्धोपयोग रूप आत्म-लीनता या परमसमाधि दशा मे ही सम्भव है, अत इस अवस्था को ही परमब्रह्म की प्राप्ति या मोक्ष-सुख का साधन माना गया है। (द्र० परमात्मप्रकाश, 2/192-194 व टीका; प्रवचनसार, 2/102, 67, 99 पर तात्पर्यवृत्ति टीका; भावपाहुड, 77, योगसार, 97, आराधनासार, 84, टीका, योगसारप्राभृत, 7/30, 31, 34, नयचक्र, 362, ज्ञानार्णव, 28/17, 28, 32, 36, 23/7, 29/76, 39/1-2 तथा नियमसार, 119)।

उक्त निष्कल परमतत्त्व की प्राप्ति हेतु अन्यत्र परिभ्रमण की आवश्यकता नहीं है, मात्र इस प्राप्त-शरीर के अन्दर निवास करने वाले चेतनतत्त्व का ही अन्तर्मुखी वृत्तिपूर्वक ध्यान करने की आवश्यकता है।

उत्थानिका—निर्विकल्पसमाधिस्थ ससारार्णव-पारगमनक्कुमेंबुद
पेळ्दपरु—

> **ब्रह्माण्डं यस्य मध्ये महदपि सदृशं दृश्यते रेणुनेदम्,**
> **तस्मिन्नाकाशरन्ध्रे निरवधिनि मनो दूरमायोज्य सम्यक् ।**
> **तेजोराशौ परेऽस्मिन् परिहृत-सदसद्-वृत्तितो लब्धलक्ष्य·,**
> **हे दक्षाध्यक्षरूपे भव भवसि भवाम्बोधि-पारावलोकी ॥ 73 ।**

टीका—(यस्य) आवुदोदु परभावशून्य-निजनिरजन-परमात्माबरद (मध्ये) वोळगे (महदपि) सकलदिगवसानातीतमु (इदम्) लोक परमागम-प्रसिद्धमुमप्प (ब्रह्माण्डम्) गगनं (रेणुना सदृशम्) सूक्ष्म पुद्गलरेणुसमानमागि (दृश्यते) काणेपडुगु (निरवधिनि) अवधि विवर्जितमुमप्प (तस्मिन्नाकाशरन्ध्रे)आ सहजशुद्ध-परमात्माभिधाना काश-विवरदोळ् (मन) मनम (दूरमायोज्य सम्यक्) पिरिदु दूररूपदि कूडि (परिहृतसदसद्वृत्तित) परित्यक्तव्रताव्रतविकल्पदत्तणि (लब्धलक्ष्य) लब्धानंतका दुर्लभात्मस्वरूपमनुळ्ळयागि (हे दक्ष ! एले निश्चयाराधना-दक्षने ! (तेजोराशौ) सकललोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञानरूप-प्रकाशपिण्डम (परे) उत्कृष्टमु (अध्यक्षरूपे) वीतराग स्वसंवेदनप्रत्यक्षमुमप्प (अस्मिन्) उक्तप्रवृत्तपूर्वार्द्ध-निरूपितमप्प परमपारिणामिकनामधेय विमल-सूक्ष्मावरदोळ् (भव) परिणतनागु (भवाम्बोधि-पारावलोकी) पचप्रकारसंसारमहासागरतीरम काण्ब (भवसि) अप्पे ।

भावार्थ—सहज-परमपारिणामिक-भावाराधने सकलज्ञत्वम माळ्कुदेबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका – निर्विकल्प समाधि मे स्थित जीव ससाररूपी महा सागर के पार को प्राप्त होता है—ऐसा प्रतिपादन करते है ।

खण्डान्वय—यस्य मध्ये=जिसके अन्दर (प्रतिबिम्बित), इदम् महत् ब्रह्माण्डम् अपि=यह विशाल ब्रह्माण्ड भी, रेणुना सदृशम्=धूलिकण के समान, दृश्यते=दिखाई देता है, तस्मिन्=उस,निरवधिनि आकाश रन्ध्रे=असीम आकाशरन्ध्र मे, सम्यक्=अच्छी तरह से, दूरम्= अन्तस्तल तक, मन· आयोज्य=मन को सयुक्त करके, हे दक्ष !=

(साधना में) कुशल !, अस्मिन् तेजोराशौ=इस तेज पुज, अध्यक्षरूपे परे=(स्वसंवेदन द्वारा) प्रत्यक्षरूप परम (आत्मतत्त्व) में, परिहृत-सदसद्वृत्तित· लब्धलक्ष्य:=सभी शुभाशुभवृत्तियो का त्याग करने के कारण लक्ष्य को प्राप्त करने वाले, भव=बन जाओ, (ताकि) भवाम्बोधि-पारावलोकी भवसि=ससार-समुद्र के पार स्थित (परमात्मतत्त्व) का साक्षात्कार करने वाले हो जाओ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जो परभाव से शून्य निज-निरजन-परमात्मारूपी आकाश के मध्य में सम्पूर्ण दिशाओ का अवसानरूप होने से अतीत है, ऐसा यह लोक व परमागम में प्रसिद्ध रूप आकाश (भी) सूक्ष्म पुद्गल-धूलिकण के समान दिखाई देता है, (ऐसे) अवधि-विवर्जित रूप उस सहज शुद्ध परमात्मा नामक आकाशरन्ध्र मे मन को अच्छी तरह दूर तक (अन्तस्तल तक) सयोजित करके व्रत और अव्रत के विकल्पो से रहित होने से उस अनन्त व दुर्लभ आत्मस्वरूप को प्राप्त करके, हे निश्चय आराधना मे निपुण ! सकल लोकालोक के प्रकाशक केवलज्ञानरूप प्रकाशपिण्ड को उत्कृष्ट वीतराग स्वसवेदन प्रत्यक्षरूप पूर्वार्द्ध मे निरूपित उक्त (प्रक्रिया के अनुसार) प्रवृत्त इस परम-पारिणामिक नाम वाले विमल, सूक्ष्म आकाश मे परिणत हो जाओ, (इससे तुम) पच-प्रकार-ससाररूपी महासागर के किनारे के द्रष्टा हो जाओगे।

भावार्थ—सहज परमपारिणामिक भाव की आराधना ही सर्वज्ञत्व को सम्पन्न करती है—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—अर्जुन की भाँति आत्माराधक को भी निज-निरजन परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई नही देता है, अत उसे 'लब्धलक्ष्य' यह विशेषण योगीन्दुदेव ने यहाँ दिया है। ऐसा साधक अपने उपयोग को निज वीतराग परमात्मतत्त्व में, जिसे यहाँ 'निरवधिनि आकाशरन्ध्र' कहा गया है (परमात्मप्रकाश, 2/162-165 व टीका), अत्यन्त गहराई तक उतार देता है। उक्त आकाश में स्थिति रूप निर्विकल्प समाधि का फल केवलज्ञान की प्राप्ति है। इस केवलज्ञान रूपी ज्योति में समस्त ब्रह्माण्ड की स्थिति एक 'अणु' के समान प्रतीत होती है (देखें, तत्त्वानुशासन, 259, उत्तरपुराण, 64/55)। जैसे अनन्त

आकाश के मध्य यह लोक एक अणु जैसी स्थिति रखता है, ऐसी ही अनन्त महिमा उस केवलज्ञान पर्याय की है, जिसकी जानने की सामर्थ इतनी अनन्त है कि समस्त ब्रह्माण्ड इसके समक्ष अत्यन्त तुच्छ है और ऐसी सामर्थ्यवान् पर्याय के जनक आत्मतत्त्व की महिमा तो उससे भी अनन्तानन्त है ।

'परिहृतसदसद्वृत्ति' पद निर्विकल्प शुद्धोपयोग की अवस्था का सूचक है। वस्तुत तो आत्मा का स्वरूप भी विरत और अविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त आदि से परे कुन्दकुन्द (समयसार, 6) आदि आचार्यो ने बताया है, तो उसकी अनुभूति करने वाली पर्याय की प्रतीति भी व्रता-व्रत आदि के विकल्पो से पार को प्राप्त होना ही चाहिए। इसकी उत्कृष्ट स्थिति द्वितीय शुक्लध्यान की पूर्णता के साथ (11-12वे) गुणस्थान में सम्पन्न होती है, जो साधक को वीतरागता व सर्वज्ञता रूपी लक्ष्य प्राप्त कराती है (द्रव्यसग्रह, 14 की टीका व 48)।

उक्त विकल्प-निरोध की धर्मसाधना से साधक को अगाध ससार-समुद्र के पारवर्ती विश्वद्रष्टा/सर्वज्ञ परमात्मा की दशा प्राप्त होती है, (ज्ञानार्णव, 35/32, 38, योगसारप्राभृत 8/100, परमात्मप्रकाश, 1/72, तत्त्वसार, 73) जिसे योगीन्दु ने यहाँ 'भवाम्भोधि-पारावलोकी' कहा है।

उत्थानिका—आजवंजविभावक्कं जुवडितु नेगळ्दु शिक्षिसि-दपरु—

संसारासारकर्मप्रचुरतर-मरुत्प्रेरणाद् भ्राम्यताऽत्र,
भ्रातर्ब्रह्माण्डखण्डे नव-नव-कुवपुर्गृह्णता मुञ्चता च।
कः क कौतस्कुत. क्व क्वचिदपि विषयो यो न भुक्तो न मुक्त·,
जातेदानीं विरक्तिस्तव यदि विश रे ! ब्रह्म-गम्भीरसिन्धुम् ।। 74 ।।

टीका—(अत्र) इल्लि (ब्रह्माण्डखण्डे) लोकाकाशाभिधानगगन-खण्डदोळ् (ससार) पचप्रकारसंसारहेतुभूत (असारकर्म) नि.सार-दुःखोत्पत्तिकारणासातावेदनीयकर्माभिधान (प्रचुरतर) अतिप्रवर्धमान (मरुत्प्रेरणात्) समीर-प्रेरणेयत्तणि (भ्राम्यता)तोळल्प (नव-नव-कुवपु) नूतन-नूतन-कुत्सितशरीरम (गृह्णता) स्वीकारिसुव (मुचता च) बिडुव (तव) निनगे (न भुक्त) उण्णदुदु (न मुक्त) उण्डुविडददुमप्प (य) आवुदोदु (विषय) पचेन्द्रियविषय अदु (क्व-क्वचित्) एल्लियानु (क क) आवुदावुदु (कौतस्कुत·) एत्तणेत्तणि बदुदेदु (इदानीम्) काल-लब्धिवशदिदीगळ् (विरक्ति) विरागबुद्धि (यदि) एल्लियानु (जाता) आदुदादोडे, (रे भ्रात !) एले नण्टने ! (ब्रह्मगम्भीरसिन्धुम्) परमब्रह्मा-भिधानामृतवारिधिय (विश) पोळपुगु।

भावार्थ—ससार-भ्रमण-जनित-विषयतृष्णे निजनिरंजन-परमात्म-भावनाजनितानदामृतपूर-स्वयम्भूरमणजलधिय पोक्कडललियल्लदे पिगदेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—सासारिक विभावो से यदि भय है, तो इस प्रकार चलो—यह समझा रहे है।

खण्डान्वय—भ्रात !=हे भाई ! अत्र=इस(ससार) मे, ससारा-सार-कर्म-प्रचुरतर-महत्-प्रेरणात्=ससार में नि सार कर्मरूपी अधिक प्रवहमान वायु की प्रेरणा से, भ्राम्यता=भ्रमण करते हुए, च=और, ब्रह्माण्डखण्डे=ब्रह्माण्ड के (विविध) भागो मे, नव-नव-कुवपु.=(नित) नये-नये कुत्सित शरीरो को, गृह्णता (च)=धारणा करते और छोड़ते हुए (तुम्हारे द्वारा), क. क.=कौन-कौन-सा, कौतस्कुत.=किस-किस प्रकार से, क्व-क्वचिदपि=और कहा-कहा, विषय.=विषय (पदार्थ) है, य· न भुक्तः न मुक्तः=जो न भोगा गया हो और (भोगकर)

न छोडा गया हो । यदि=अगर, तव=तुम्हारे (मन में), इदानीम्=अब, विरक्ति जाता=विरक्ति (उत्पन्न) हुई हो (तो) रे !=हे भाई ! ब्रह्मगम्भीरसिन्धुम् विश=ब्रह्मरूपी गम्भीर समुद्र में प्रवेश कर जाओ ।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—यहाँ पर लोकाकाश नाम के आकाश-प्रदेश मे पाच प्रकार के ससार का हेतुभूत तथा नि·सार और दु.ख की उत्पत्ति का कारणभूत असातावेदनीय कर्मनामक अत्यन्त बढ़ती हुई हवा के झोको से कष्ट उठाने वाले, नूतन-नूतन कुत्सित शरीरो को स्वीकार करते हुए और छोडते हुए तुम्हारे द्वारा नही भोगा गया हो, और भोगकर नही छोडा गया (हो, ऐसा) जो पचेन्द्रिय का विषय है, वह कहाँ-कहाँ कौन-कौन सा (है) और किस-किस प्रकार से प्राप्त है ? काल-लब्धि के वश यदि अब ऐसी विरागबुद्धि हो गई हो, तो हे भाई ! परम ब्रह्म नामक अमृत-समुद्र के अन्दर (प्रविष्ट) हो जाओ ।

भावार्थ—ससार में परिभ्रमण से उत्पन्न विषयो की तृष्णा (प्यास) निज-निरजन-परमात्म की भावना से उत्पन्न आनन्दरूपी अमृत के स्रोत—ऐसे स्वयम्भूरमणसमुद्र में प्रवेश किये बिना नही बुझ सकेगी ।

विशेष—यहाँ पर आ योगीन्दुदेव ने 'ब्रह्म' (या शुद्धात्मतत्त्व) से तन्मयता की प्राप्ति हेतु 'विरक्ति' भाव की पुष्टि करने की प्रेरणा दी है । ससार के दु खो की की भयावहता तथा भोगो की दु खरूपता व नश्वरता बताने के बाद शिष्य से पूछते है कि तुम्हे इनसे विरक्ति हुई क्या ? यदि हुई हो तो ब्रह्मतत्त्व मे प्रवेश करने के लिए प्रयाण करो । विरक्त व्यक्ति भोग-सम्पत्ति का वैसे ही त्याग करता है, जैसे कोई वमन किये पदार्थो को छोडने के बाद देखना भी नही चाहता (आत्मानुशासन-103), फिर उस विरक्त का मन/उपयोग 'जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै" की तरह अपने शुद्धात्मतत्त्व में ही विश्रान्त होता है ।

अपने अगणित भवो मे अनन्तो बार उच्छिष्टवत् भोगकर छोडे गये विषय-भोगो को बारम्बार भोगते हुए भी व्यक्ति की तृष्णा का अन्त नही आता (द्र पद्मपुराण, 106/99, भगवती आराधना, 1256-1260, 1649, 1652, मूलाचार, 78-80, आत्मानुशासन, 36) । भोगकर छोड गये पदार्थों में भी जो तृष्णा नही छोडते, विरक्ति को प्राप्त नही होते, ऐसे मूढो को तो 'मनुष्य' मानने से भी आचार्यों ने इन्कार किया है (द्र प्रशमरतिप्रकरण, 110; तुलना हेतु ज्ञानार्णव, 4/42, 43, 60, तत्त्वानुसासन, 41) ।

उत्थानिका—एन्नेवरं स्वदेहस्थित-परमात्मननरीयनन्नेवर बहि-स्तीर्थाभासंगळनंतररात्मं तोळल्गुमेंदु पेळ्दपरु—

पारावारोऽतिपारः सुगिरिरुरुरयं रे! वरं तीर्थमेतत्,
रेवा रंगत्तरंगा सुरसरिदपरा रेवतीशो हरिर्वा।
इत्युद्भ्रान्तान्तरात्मा भ्रमति बहुतरं तावदात्मात्ममुक्त्यै,
यावद्देहेऽपि देही हित-विहित-हित-ब्रह्म शुद्ध न पश्येत् ॥75॥

टीका—(यावत्) एन्नेवर (देहेऽपि) स्वकीय-तनुविनोळ् मत्ते (देही) ससारीजीव (हित) मुक्तिनिमित्त (विहित) माडेपट्ट (हित) निश्चय-रत्नत्रयात्मकमप्प (ब्रह्मशुद्धम्) परम ब्रह्मस्वरूपम (न पश्येत्) काणं, (तावत्) अन्नेवर (अतिपार.) तडिगाणवारद (पारावार) समुद्र (अयम्) इदु (उरु) गगनबरमुन्नतमाद (सुगिरि.) मिक्कपर्वतमिदु (रे !) एले ! (वरम्) मिक्क (रेवातीर्थमेतत्) रेवातीर्थमिदु (रगत्तरगा) ओप्पुव पिरिय तेरेमाळेगळनुळ्ळ (सुरसरित्) गगानदि (अपरा) अद्वितोयमप्पुदु (रेवतीश) रामनीत (हरिर्वा) हरिशब्द नानार्थवाचक-मप्पुदरि पुरुषोत्तमनु चद्रनुमादित्यनुमिन्द्रनु नागेन्द्रनु मेणीतनेंदु (उद्भ्रान्त) स्व-परतत्व-विज्ञान-विकलनप्प (अन्तरात्मा) सामान्या-तरात्म (बहुतरम्) पलवुसूळ् (आत्ममुक्त्यै) कारणसमयसार-निज-नि श्रेयसप्राप्तिनिमित्त (भ्रमति) भ्रमियिसुगु।

भावार्थ—मोक्षाभिलाषगळेल्ल भव्यरे निक्कुमेबुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—जब तक अपने शरीर में स्थित परमात्मा को नही पहचानेगा, तब तक बाहरी तीर्थाभासो मे यह आत्मा दुख भोगता/सहता रहेगा, ऐसा बता रहे है।

खण्डान्वय—यावत्=जब तक, देही अपि आत्मा=शरीरधारी होते हुए भी (यह) आत्मा, आत्ममुक्त्यै=(कर्मों से) अपनी मुक्ति के लिए, देहे=(प्राप्त) शरीर में, शुद्धम्=शुद्ध, हित-विहित-हित-ब्रह्म=(आत्म) हित के हेतु 'हित'रूपता (निश्चयरत्नत्रयात्मकता) को प्राप्त 'ब्रह्म' का, न पश्येत्=साक्षात्कार नही करता, तावत्=तब तक, अयम् अतिपारः पारावार=यह अपार समुद्र (है), (अय) उरुः सुगिरिः=(यह) विशाल श्रेष्ठ पर्वत (है), रेवा=रेवा नदी, (और)

रगत्तरंगा अपरा सुर-सरिद्=बडी-बडी तरंगो वाली दूसरी देव नदी (गगा) है; रे !=हे भाई ! एतत् वरतीर्थम्=यह (पूर्वोक्त) श्रेष्ठ तीर्थ है, (अय) रेवतीश. हरि वा=यह बलराम अथवा विष्णु (की प्रतिमाएँ) हैं, इति=इस प्रकार, उद्भ्रान्तान्तरात्मा (सन्)=भ्रान्ति (अज्ञान) से युक्त अन्तरगवाला आत्मा (होता हुआ यह जीव), बहुतरं भ्रमति=(संसार मे) अत्यधिक भटकता रहता है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जबतक अपने शरीर में भी जीव मुक्ति के लिए किये गये (बताये गये) निश्चयरत्नत्रयात्मक परमब्रह्मस्वरूप को नही देखता है, तब तक, जिसका किनारा दिखाई नही दे रहा हो, ऐसा समुद्र (है), यह आकाश तक ऊँचा श्रेष्ठ पर्वत है। और अरे ! यह श्रेष्ठ रेवातीर्थ है (और यह) बडी-बडी सुन्दर तरगो से भरी हुई गगा नदी है, जो कि अद्वितीय है। ये (बल) राम है अथवा 'हरि' शब्द नाना अर्थो का वाचक होने से पुरुषोत्तम, चद्र, सूर्य, इन्द्र, नागेन्द्र है—ऐसा स्व और पर के तात्त्विक भेदविज्ञान से रहित सामान्य अन्तरात्मा (सामान्यत. आत्मा या मोक्ष की इच्छा रखने वाला जीव) अनेको बार कारण-समयसाररूप निज नि श्रेयस् की प्राप्ति के लिए परिभ्रमण करता है।

भावार्थ—मोक्षाभिलाषी सभी जीव 'भव्य' हैं, ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—जहाँ से समार के अनत दु खो से तिरा जा सके ऐसा सच्चा तीर्थ तो निज शुद्धात्मा ही है। उसमे अनुभूति रूप 'परम-समाधि' का सरोवर ही ऐसा तीर्थ है, जिसमे स्नान कर आत्मा निर्मल/पवित्र हो जाती है (द्र० परमात्मप्रकाश, 2/189)। ससार के अन्य भौतिक तीर्थ तो तीर्थाभास है। गंगा आदि नदियो मे तीर्थ-सम्बन्धी मान्यता का निषेध करते हुए 'आत्मा' रूपी तीर्थ मे ही स्नानादि की प्रेरणा जैन अध्यात्म-ग्रन्थो मे बहुश प्राप्त होती है (योगसारप्राभृत, 4/45, 1/26-31, 36-37, पद्मनदिपचविशति, 10/18,15/5-7 आदि)।

'हितविहितहित'—'हित' है परम वीतरागता, किवा निराकुल-मोक्ष-सुख व केवलज्ञान-ज्योति की प्राप्ति (द्र० छहढाला, 3/1, भगवती आराधना, 100 व 13 की टीका, ज्ञानार्णव, 1/36)। इस 'हित' के साधन को भी 'हित' कहा गया है। इस प्रकार आत्मसाधना, व आत्मसाधना का साध्य 'मोक्ष'—दोनो 'हित' की कोटि में आ जाते हैं।

उत्थानिका—संसारदोळ् नित्यसुखमिल्लेंदु पेळ्दपरु—

विश्वे विश्वंभरेशा शिरसि मम पादाम्भोजयुग्मं ददन्ते,
वश्या भावस्य लक्ष्मीर्वपुरपि निरघं विघ्नहेतु: कुतो मे।
इत्यादौ शर्म-हेतौ निपतति निखिले 'किं ततो' मुद्‌गरोऽयम्,
तस्मात्तद् ध्याय किंचित् स्थिरतरमनसा 'किं ततो' यत्र नास्ति ॥76॥

टीका—(विश्वे) एल्ला (विश्वभरेशा:) नरेन्द्रक्कर्ळु (शिरसि) निजोत्तमागदोळ् (मम) एन्न (पादाम्भोजयुग्मम्) चरणकमलयुगलम (ददन्ते) ताळ्दुवरु, (वश्या भावस्य) वशवर्तित्वक्के सन्दळ् (लक्ष्मी) श्री, (वपुरपि) शरीरमु मत्ते (निरघम्) सकलरोगरहितमप्पुदु (विघ्नहेतु:) विघ्नक्के कारण (कुत) एत्तणदु ? (मे) एनगे— (इत्यादौ) इवु मोदगोडेय (शर्महेतौ) सासाग्किसुखनिमित्तमागुत्तमिरे (निखिले) एल्ला ससारी जीवराशिय मेले (कि तत.) तत किमेब (मुद्गर) करुवोन्नडगे (निपतति) बिर्दडु (तस्मात्) अदु कारणदि (कि तत) तत: किमेबुदु (यत्र) आवुदोदेडेयोळ् (नास्ति) इल्ल। (किचित्) चिद्रूपमप्प (तत्) अद (स्थिरतरमनसा) सुस्थिरचित्तदि (ध्याय) ध्यानिसु।

भावार्थ—सनातनसुख पोरगागि निखिलससारिगळ सुखसपत्तु नित्यमल्लेबुदु सूत्रार्थम्।

उत्थानिका—ससार मे कदापि सुख नही है, यह बता रहे है।

खण्डान्वय—विश्वे=सम्पूर्ण, विश्वभरेशा =राजा-महाराजा, मम पादाम्भोजयुग्मम्=मेरे दोनो चरणकमलो को, शिरसि ददन्ते= (अपने) मस्तक पर रखते है। लक्ष्मी. भावस्य वश्या=लक्ष्मी (मेरे मनोभावो की) वशीभूत है; वपु अपि निरघम्=(मेरा) शरीर भी नीरोग है, (तब फिर) मे कुतो विघ्नहेतु=मेरे लिए किस प्रकार विघ्न पैदा करने वाला (कोई होगा ?)—इत्यादौ निखिले शर्म-हेतौ=इत्यादि समस्त सुख/कल्याण के साधनो के होने पर (भी), 'तत किम्' अय मुद्‌गर ='तो क्या हुआ ?' (इस कथन रूप) यह मुद्‌गर, निपतति=गिरता है (अर्थात् सभी सुख-साधनों पर प्रश्नचिह्न लगा देता है), तस्माद्=इसलिए, स्थिरतरमनसा=स्थिरचित्त से/एकाग्रमन होकर, तत् किंचित्=उस अनिर्वचनीय (चेतनतत्त्व) का, ध्याय=ध्यान करो, यत्र 'तत किम्' नास्ति=जिसमे 'तो क्या हुआ ?' (यह प्रश्नचिह्न) नही होता है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—सभी राजे-महाराजे अपने उत्तम अंग (मस्तक) मे मेरे चरणकमल युगलो को धारण करते हैं, (और) वशर्वतित्व को प्राप्त हो जाने वाली 'श्री' (लक्ष्मी) है, (मेरा) शरीर भी समस्त रोगों से रहित है, (ऐसी स्थिति में) विघ्नो का कारण कहाँ से (हो सकता है ?)। मेरे लिए ये सब सासारिक सुखो के निमित्तो के (एकत्रित) हो जाने पर (भी) सम्पूर्ण ससारी जीवराशि पर 'उससे क्या' ऐसी गदा गिरती है (वज्रपात होता है)। इसलिए 'उससे क्या' (प्रश्न) जहा पर नही (उठता) है, (ऐसे) उस चिद्रूपी (आत्मा) का ध्यान करो।

भावार्थ—सनातनसुख को छोड़कर सम्पूर्ण सासारिक सुख व सम्पत्ति नित्य नही है, ऐसा सूत्रार्थ है।

विशेष—ससार के बड़े-से-बड़े देवेन्द्र-नरेन्द्र आदि के सुख-साधन भी उपलब्धिरूप नही माने जा सकते है, क्योकि (1) वे इन्द्रियाधीन होने से पराधीन है, (2) हानि-वृद्धि से युक्त होने से अस्थिर तथा नियतकालीन है, (3) अशरण है, (4) नित्य आकुलतास्वभावी, तृष्णावर्धक व अतृप्तिकारक होने से पीडादायक हैं, इन्हे प्रारभ मे जोडने मे दु ख, मध्य मे भोगने में दु ख तथा अन्त मे भोगरूप परिणाम अशुभ होने से फल मे नरकादि का दु ख ही मिलता है। (द्र० योगसारप्राभृत, 3/34-36; इष्टोपदेश 5-6, परमात्मप्रकाश, 2/131-132, तत्त्वानुशासन, 143-144, समयसार, 74 पर आत्मख्याति, प्रवचनसार, 1/63-66, 70-71)। साथ ही ये वन्ध (पुण्य) के फल है, तथा इनमे रमने से भी बन्ध (पाप) ही होना है, अत. ये बन्धस्वरूप व दु खमय है। क्योकि नित्य-निराबाध-अनन्तसुख तो निजपरमात्मतत्त्व व परमपद (मोक्ष) के अतिरिक्त कही मिल ही नही सकता है (परमात्मप्रकाश, 1/116-18, 2/9, प्रशमरतिप्रकरण, 170, समयसारकलश, 232)।

सासारिक सुख,समृद्धि की अतिशयता कितनी भी हो जाये, परन्तु यह प्रश्नचिह्न लगा ही रहता है कि 'तत किम्' अर्थात् उससे क्या ? तुमसे पहले अनेको प्राप्त कर/भोगकर इसे छोड चुके हैं, तथा इनकी रमणता/तृष्णा बढाने वाली है, अत कष्ट ही बढेगा, घटेगा नही। इनकी प्राप्ति कोई आश्चर्य की बात नही है, ये पुण्य की देन हैं, तुम्हारे पुरुषार्थ के प्रतीक नही। अत ध्यानादि द्वारा ब्रह्ममयता व मुक्ति प्राप्त करने का यत्न ही श्रेयस्कर है, और उसी की प्रेरणा यहाँ दी गई है।

उत्थानिका—(तदुक्त भर्तृहरिणा) भर्तृहरियिद निरूपिसेपट्टदेदु परमतदोळ् तोरिदपरु—

> **दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां 'तत किम्',**
> **जाता श्रिय सकलकामदुघास्तत किम्।**
> **सन्तर्पिता प्रणयिनो विभवैस्तत. किम्,**
> **कल्पस्थितं तनुभृतां तनुभिस्तत किम् ॥77॥**

टीका—(विद्विषताम्) पगेवर (शिरसि) मस्तकदोळ् (पदम्) निजचरण (दत्तम्) कोडेपट्टदु (तत किम्) अल्लिबळिक्केनु ? (सकल-कामदुघा) निखिलजनाभिलक्षित-हितफलप्रदमप्प (श्रिय) सम्पत्तिगळ् (जाता) आदुवु (तत किम्) अल्लिबळिक्केनु ? (विभवै.) प्रकृष्टतर-विभवगळि (प्रणयिन) इष्टजनगळ् (सन्तर्पिता) तणिपे पट्टरु (तत किम्) अल्लिबळिक्केनु ? (तनुभृताम्) ससारिगळ (तनुभि) शरीरगळि (कल्पस्थितम्) कल्पान्त: स्थितियादुदु (तत. किम्) अल्लिबळिक्केनु ?

भावार्थ—बळिक्केनन्दोडे परिभव दरिद्रतेय, विगतवितरण मृतियुमादुदेबुदभिप्रायम्।

उत्थानिका—(वही भर्तृहरि ने भी कहा है) भर्तृहरि के द्वारा प्रतिपादित किया गया है—ऐसा (कहकर) अन्य मत मे भी (वही पूर्व-छन्दोक्त बात) बता रहे है।

खण्डान्वय—विद्विषता शिरास=शत्रुओ के सिर पर, पद दत्तम्=पॉव रखा, तत किम्?=तो क्या हुआ? सकलकामदुघा श्रिय जाता=समस्त कामनाओ की पूर्ति करने वाली ऐश्वर्य-विभूतियाँ (भी) हुई, तत: किम्?=तो (भी) क्या हुआ?, विभवै=वैभव/सम्पत्ति से, प्रणयिन सन्तर्पिता=प्रेमी/इष्टजनो को सन्तृप्त किया, तत. किम्=तो (भी) क्या हुआ?, तनुभृता तनुभि=शरीरधारियो (प्राणियो) के शरीरों द्वारा, कल्पस्थितम्=कल्पान्त तक स्थित (जीवित) रहा गया, तत किम्=तो (भी) क्या हुआ? (अर्थात् अविनाशी निराबाध सुख तो नही मिला, तथा भौतिक सुख-साधनो का तो एक-न-एक दिन अभाव होगा और मृत्यु का मुख देखना ही पडेगा।)

हिन्दी अनुवाद (टीका)—शत्रुओं/बैरियों के मस्तक पर अपना पैर रख दिया गया, (तो) इससे क्या ? सम्पूर्ण लोगो के अभिलषित हित-

कारी फल को देने वाली सम्पत्तियाँ दी गई (तो) उसके बाद क्या ? प्रकृष्टतर वैभवों के द्वारा इष्टजन सन्तृप्त कर दिये गये (तो) उसके बाद क्या ? ससारियो के शरीर कल्पान्त स्थिति वाले हो गये (तो) उसके बाद क्या ?

भावार्थ—यह पूछने पर कि 'उसके बाद क्या ?' (कहते है कि) पराजय, दरिद्रता और अनिवार्य मृत्यु होगी—ऐसा अभिप्राय है।

विशेष -प्रस्तुत पद्य भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतक' (186, 3/38) में कुछ पाठान्तर के साथ प्राप्त होता है। ज्ञानार्णव (4/58) मे भी यह कुछ पाठ-भेद सहित (प्रक्षिप्त मानकर कुछ प्रतियो मे) समाहित है।

पिछले पद्य मे जो 'तत किम्' रूपी मुद्गर का उल्लेख योगीन्दु ने किया था, उसका विशद स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया गया है। संसार की अनेक प्रकार की वैभव-सामग्री प्राप्त कर लेने पर भी उसकी तुच्छता व अधूरेपन का प्रश्नचिह्न खडा रहता है। वे कहते है कि शत्रुओ के सिर पर अपने चरण रखे अर्थात् उन्हे पददलित किया, तो भी क्या हुआ ? सकल कामनाओ को पूर्ण करने वाली लक्ष्मी भी प्राप्त कर ली, तो क्या हुआ ? अपने वैभव से प्रेमीजनो को सुखी-सन्तुष्ट भी कर दिया, तो भी क्या हुआ ? (कोई नवीन उपलब्धि नही हुई, पूर्ण सुख-शान्ति भी नही मिल सकी।)

यदि प्राणी सुख-शान्ति प्रदान करने के कारण ही लौकिक सुख-साधनो को उपादेय मानता है, तो यह उसकी भूल है, क्योकि वे इन्द्रियाधीन होने से पराधीन है, अनित्य है, बाधा-सहित है, तृष्णावर्धक होने से अन्तत आकुलता ही उत्पन्न करते है।

वस्तुत ये सभी भौतिक उपलब्धियाँ पुण्य की दासी है, और योगीन्दुदेव के दृष्टिकोण मे पुण्य, पाप से अधिक खतरनाक रहा है। उन्होने तो स्पष्ट कहा कि जो पुण्य को भी पाप (के समान हेय) मानता है, वही पडित (ज्ञानी) है (योगसार ,72)। जो पुण्य प्राणी को पाप की ओर अग्रसर करे, ऐसे पुण्य से तो वे उस पाप (उदय) को श्रेष्ठ मानते है, जिससे 'मोक्ष' प्राप्ति के प्रति प्राणी सजग व सचेष्ट हो।

अत प्राणी को पुण्य के मीठे जहर के प्रभाव से बचाने के लिए 'तत किम्' का प्रश्नचिह्न उसकी भौतिक उपलब्धियों पर उन्होने लगाया है। चक्रवर्ती भरत को भी इस प्रश्न का सामना करना पड़ा था।

उत्थानिका—परमोपदेश-निरूपणार्थमुत्तरवृत्तावतारम् —

तस्मादनन्तमजर परम-प्रकाशम्,
तच्चित्त चिन्तय किमेभिरसद्-विकल्पै ।
यस्यानुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य-
भोगादय कृपणजन्तुमता भवन्ति ॥78॥

टीका—(कृपणजन्तुमता) दीनजनसम्मतमु (इमे) प्रत्यक्षमप्प (भुवनाधिपत्य-भोगादय) नरेन्द्र-सुरेन्द्र-विभव-भोगादिगळु (यस्य) आवुदोदु निजपरमात्मानुष्ठानद (आनुषगिण) आनुषगिकफलंगळु (भवन्ति) अप्पुवावुदोन्दुकारणदि (तस्मात्) अदुकारणदि (किमेभि-रसद्विकल्पै) ई शुभानुष्ठानजनितविकल्पगळिनेनादपुदु (अनन्तम्) अन्तातीतमु (अजरम्) जराविरहितमु (परम-प्रकाशम्) निखिलतत्त्व-द्योतकप्रकृष्टप्रकाशमुमप्प निजनिरजनपरमात्मज्योतिय (तच्चित्त-चिन्तय) मनमनविचलमागि कूडि चिन्तिसुव ।

भावार्थ—निजपरमात्माराधनेयिनभ्युदयपूर्वकनि श्रेयसप्राप्ति-यक्कुमेंबुदभिप्रायम् ।

उत्थानिका—परम-उपदेश का निरूपण करने हेतु प्रस्तुत पद्य है ।

खण्डान्वय—तस्माद्=(सासारिक सुख अस्थायी व दु खजनित है) इसलिए, चित्त !=हे मन !, एभि· असद्विकल्पै किम्=इन (तत किम् आदिरूप) अप्रशस्त विकल्पो से क्या लाभ ?, तत्=उस, अनन्तम्-अजरम्-परमप्रकाशम् = अनन्त-अजर-परमज्योति.स्वरूप (चिदात्मा) का, चिन्तय=ध्यान करो । इमे भुवनाधिपत्य-भोगादय =ये लोकाधि-पति आदि के काम-भोग आदि (तो), यस्य आनुषगिण =जिस (परमात्माराधना) के आनुषगिक (गौणरूप से प्राप्त होने वाले फल) हैं (और ये), कृपणजन्तुमता. भवन्ति=अज्ञानी जनों के लिए ही सम्मत (अभीष्ट) होते हैं।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—दीन व्यक्तियो/अज्ञानीजनो के द्वारा सम्मत (अभीष्ट) ये प्रत्यक्षभूत नरेन्द्र-सुरेन्द्र आदि के वैभव व भोग आदि, जिस निज परमात्मा के अनुष्ठान के आनुषगिक (साथ मे प्राप्त होने वाले) फल होते हैं—जिस कारण से, उस कारण से इस शुभ

अनुष्ठान से उत्पन्न विकल्पो से क्या होगा ? अन्तरहित (अमर) और जरा (बुढापे) से रहित निखिल तत्त्व के द्योतक, उत्कृष्ट प्रकाशरूप निज-निरजनपरमात्मा-ज्योति को मन मे अविचलरूप (स्थिर) हो करके चिन्तन करो।

भावार्थ—निज-परमात्मा की आराधना से अभ्युदय (स्वर्गादिक) पूर्वक नि श्रेयस् की प्राप्ति होती है, ऐसा अभिप्राय है।

विशेष—प्रस्तुत पद्य भी भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतक' (188, 3/40) तथा कुछ पाठान्तर के साथ ज्ञानार्णव (4/58 के बाद प्रक्षिप्त दूसरा पद्य) मे उपलब्ध होता है। वस्तुत एक ही सत्य अनेक ग्रन्थो में मिलता है, तो इससे उसकी प्रामाणिकता पुष्ट होती है। इस पद्य में व्यक्त भाव को हमे योगीन्दु का ही प्रिय आन्तरिक भाव समझना चाहिए।

योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश (1/97) में भी इसी आशय का पद्य लिखा है, तदनुसार –(शुद्धात्मतत्त्व की मर्यादा से बाहर रागादि-विकल्पवर्धक) 'अधिक बातों से क्या लाभ ? निर्मल आत्मा का ध्यान करो, क्योकि आत्मध्यानीजन क्षण भर में (अति अल्पकाल मे) परम-पद प्राप्त करते है।' आ अमृतचन्द्र भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'अरे भाई ! व्यर्थ का हल्लागुल्ला करना छोड़ो, विरक्त होकर छह मास ही अभ्यास करके उस एक परमतत्त्व को देखो, तुम्हे निश्चय ही परम-प्रकाशमान आत्मतत्त्व की उपलब्धि होगी (समय-सारकलश, 34)।

सम्पूर्ण प्रथमानुयोग साक्षी है, कि आत्मसाधना के मार्ग पर बढने वालो को साथ बँधने वाले उत्कृष्ट पुण्य के फलस्वरूप बाह्य वैभव निरन्तर प्राप्त होता रहता है, किन्तु आत्मा के आराधक कभी उसे उपलब्धि मानकर उसमे अटकते नही है। वे जानते हैं कि इस वीतराग धर्म की महिमा ऐसी है, कि ये पुण्यजनित विभूतियाँ तो चरणो में लोटने वाली ही है, किन्तु इनकी ओर ध्यान देना उन्हे निजतत्त्व से दूर कर देगा। अत वे अपने मन को निरन्तर सावधान करते रहते हैं कि 'हे चित्त ! उस अनन्त-अजर परमप्रकाश आत्मतत्त्व का चिन्तन करो, इन असद्विकल्पो से क्या लाभ ?'

यहाँ 'कृपण' पद का अर्थ मूर्ख/बहिरात्मा है। 'जन्तु' पद का प्रयोग 'चिन्तन-मनन आदि से रहित' पशुतुल्य व्यक्ति के लिए किया गया है।

उत्थानिका—क्लेशमात्माराधनेगे फलमल्तेदु पेळ्दपरु—

> **उपशमफलाद् विद्याबीजात्फलं वरमिच्छताम्,**
> **भवति विपुलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम्।**
> **न नियतफला सर्वे भावा फलान्तरमीशते,**
> **जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरम् ॥79॥**

टीका—(उपशमफलात्) परमोपशमभावमने फलवागुळ्ळ (विद्याबीजात्) स्वसंवेदनज्ञानवपनदत्तणिं (वरं फलम्) मिक्क फल (इच्छताम्) वेळ्पवर्गे (विपुल) पिरिदप्प (आयास.) बेवस (भवति यदि) अक्कुमप्पोडे, (तत्) अदु (सर्वे भावा) एल्ला पदार्थगळु (फलान्तरम्) अन्यवस्तुजनितफलगळु (न ईशते) बयसेपडुव। (व्रीहे) नेल्लिना (बीजम्) बिट्टु (जातु) एंदप्पोडम् (खलु) नेट्टने (यवाङ्कुरम्) जवेय मोळेयं (न जनयति) पुट्टिसदु।

भावार्थ—उपादानकारणसदृश कार्यमेबवचनदत्तणि विवेकवकुपशम फलमल्लदे दु खफलमल्तेबुदु तात्पर्यम्।

उत्थानिका—आत्मा की आराधना करने का फल 'क्लेश'/दु.ख (कदापि) नही हो सकता है, यह बताते है—

खण्डान्वय—उपशमफलाद्=उपशम (प्रशम) भावरूप फलवाले, विद्याबीजात्=(स्वसवेदन) ज्ञानरूपी बीज से, वर फलम्=(उपशम से भी) उत्कृष्ट फल को, इच्छताम्=चाहने वालो का, यदि=अगर, विपुल आयास भवति=अत्यधिक श्रम (दृष्टिगोचर) होता है, तद्=तो, अत्र=इसमें, किम् अद्भुतम्=आश्चर्य की क्या बात है? खलु=निश्चय ही, नियतफला:=निश्चित फल (को उत्पन्न करने) वाले, सर्वे भावा.=समस्त पदार्थ, फलान्तरम्=(अपने नियत फल से) भिन्न फल को, न ईशते=(उत्पन्न करने में) समर्थ नही होते हैं। व्रीहे बीजम्=धान का बीज, जातु=कभी भी, यवाकुरम्=जौ के अंकुर को, न जनयति=उत्पन्न नही करता है।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—परम उपशम भावरूप फलवाले स्वसवेदन ज्ञानरूपी बीज के बोने से उत्कृष्ट फल चाहने वालों को अत्यधिक परिश्रम यदि होता (करना पडता) है, तो इसमें क्या

आश्चर्य ? (क्योंकि) निश्चित फलरूपी समस्त पदार्थ अन्य वस्तु जनित फलों को नही चाहते है। धान-विशेष का बीज कभी भी वास्तव मे जौ के अकुर को उत्पन्न नही करता है।

भावार्थ—'उपादान कारण के समान ही कार्य होता है'—ऐसे वचन के द्वारा विवेकजनित उपशमभाव ही फलरूप होता है, 'दु ख' फलरूप नही होता है, ऐसा तात्पर्य है।

विशेष—यहाँ 'विद्या' से अभिप्राय टीकाकार ने 'स्वसंवेदन ज्ञान' लिया है। और इसका फल 'उपशम' या टीकाकार के अनुसार परम उपशम' बताया गया है। वस्तुत सच्ची विद्या या ज्ञान वही है, जो तत्त्वबोध के साथ-साथ रागादि से विरक्ति तथा परिणामो की विशुद्धि पूर्वक चित्त की चंचलता का निरोध कर उसे स्वरूप मे एकाग्र करे (मूलाचार, 267-268, ज्ञानार्णव, 7/14, आत्मानुशासन, 244, तत्त्व-सार, 63), अतएव विद्या या ज्ञान का फल विरति, निर्वेद, तत्त्व-साक्षात्कार और आत्मस्वरूप में रमणता माना गया है (इष्टोपदेश, 37-38)। तत्त्वानुशासन (139) में उपशम, विरागता, मध्यस्थभाव, कषायजय, समता, उपेक्षा, अस्पृहा व शान्ति आदि को 'प्रशम' का पर्यायवाची माना गया है। आ० अमृतचन्द्र के अनुसार 'ज्ञानी' ज्ञान-चेतना की पूर्णता को सम्पादित करता हुआ आत्मिक प्रशम-रस का पान करता है (समयसारकलश, 233)।

किन्तु यहाँ अभिप्राय उक्त 'उपशम' या 'प्रशम' आदि के सुख से कही आगे पूर्ण वीतरागता के अनन्तसुख की प्राप्ति कराने का है, अत. योगीन्दुदेव ने कहा है कि सच्चे साधक तो और अधिक उग्र पुरुषार्थ करते देखे जाते है (ताकि क्षायिक भाव की प्राप्ति हो सके अथवा उसके योग्य पात्रता प्रकट हो सके), क्योंकि सही दिशा में किये गये पुरुषार्थ का सुफल अवश्य मिलता है। यथा धान के बीज-वपन का फल कभी जौ की प्राप्ति नही हो सकता, वैसे ही स्वोन्मुख-पुरुषार्थ का फल भी कभी अन्यथा नही हो सकता है।

आचार्य अमितगति ने भी ऐसा प्रयोग किया है, तदनुसार 'ज्ञानरूपी बीज से प्रशस्त ध्यान की खेती की जानी चाहिए, और इसमें तत्त्व-श्रवणरूपी मीठा पानी सीचना चाहिए (द्र० योगसारप्राभृत, 7/45, 50)।

उत्थानिका—कविनाम-सूचनपूर्वकमन्त्य-मंगलनिरूपणार्थमुप-संहार-वृत्तावतारम्—

> **चंचच्चन्द्रोरुरोची-रुचिरतरवच: क्षीरनीरप्रवाहे,**
> **मज्जन्तोऽपि प्रमोदं परममरनरा संज्ञिनोऽगुर्यदीये।**
> **योगज्वालायमान-ज्वलदनलशिखा-क्लेशवल्ली-विहोता,**
> **योगीन्द्रो व. सचन्द्रप्रभविभुरविभुर्मंगलं सर्वकालम् ॥80॥**

टीका—(यदीये) आवनोर्वन (चंचत्) चकचकायमानमप्प (चन्द्र) चन्द्रमन (उरु) पेर्च्चिद (रोचि:) किरणदत्ते (रुचिरतर) अतिमनोहर-मप्प (वच) दिव्यध्वनियेब (क्षीरनीरप्रवाहे) परमामृत-जलप्रवाहदोळु (मज्जन्त) मुळुगिदरागियु (अमरनरा) सुरेन्द्र-मनुजेन्द्ररप्प (संज्ञिन·) ससारिगळु (परम्) मिक्क (प्रमोदम्) हर्षम (अगु) ऐदिदरु। (योग) द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानवीतराग-निर्विकल्पसमाधियेब(ज्वालायमान) उरियं पोळ्व (ज्वलदनलशिखा) उरियनाल्गेयं (क्लेशवल्ली) ससार-जनितक्लेशवल्लिय (विहोता) होममाळ्पनु (अविभु) विगतस्वामियु (योगीन्द्र) गणधरदेवादियोगीन्द्रगळिद्रनुमप्प (चन्द्रप्रभविभु) चन्द्रप्रभ-स्वामि (व:) निमगे (सर्वकालम्) एल्ला कालमु (मगलम्) मगलमक्के।

उत्थानिका—कवि के नाम की सूचना के साथ अन्त्य-मंगल करने के लिए उपसहार-पद्य को प्रस्तुत करते हैं।

खण्डान्वय—यदीये=जिसके, चचच्चन्द्रोरुरोची-रुचितर-वच·-क्षीरनीरप्रवाहे=सर्वत प्रकाशमान चन्द्रमा की विस्तृत किरणों की प्रभा से भी अधिक मनोहर वाणी रूपी क्षीर (सागर) की जलधारा में, सज्ञिन =समनस्क, अमरनरा.=देवगण तथा मनुष्य, मज्जन्त. अपि=स्नान करते हुए भी, पर प्रमोदम्=अत्यधिक हर्ष को, अगु·=प्राप्त हुए हैं। योग-ज्वालायमानज्वलदनलशिखा-क्लेशवल्ली-विहोता=योग-साधनारूपी प्रकाशमान प्रज्वलित अग्नि-शिखा में क्लेशो की लता का हवन करनेवाले, योगीन्द्र=योगियो के इन्द्र (अधिपति) (पक्ष में ग्रन्थकर्ता) अविभु·=जिसका अन्य कोई स्वामी न हो, सचन्द्र-प्रभविभु =(ऐसे तीर्थंकर) चन्द्रप्रभ स्वामी, सर्वकालम्=सर्वदा, व·=हमारे लिए, मंगलम्=मंगलकारी (हों)।

हिन्दी अनुवाद (टीका)—जिसके चकचकायमान चन्द्र की विस्तृत किरणों के समान अत्यन्त मनोहारी दिव्यध्वनिरूपी परम अमृतमय जलप्रवाह में गोता लगाते हुए देवेन्द्रो व मनुजेन्द्रो (चक्रवर्तियों) जैसे (श्रेष्ठ) ससारी प्राणी अत्यधिक हर्ष को प्राप्त होते है, (ऐसे) द्वितीय-शुक्लध्याननामक वीतराग निर्विकल्प समाधिरूपी प्रकाशमान अग्नि की लपलपाती लपटो (में) संसारजनित दु खरूपो लता का होम करने वाले, अनीश्वर (जिसका कोई स्वामी नही है) (ऐसे) गणधरदेवादि योगीन्द्रो के भी स्वामी चन्द्रप्रभस्वामी (अष्टम तीर्थंकर) हमारे लिए सर्वकाल मगलकारी हो।

विशेष—शास्त्रो में कहा गया है कि "आदौ मध्यावसाने च मंगलं भाषित बुधै" अर्थात् शास्त्र के प्रारम्भ मे, मध्य मे व अन्त मे 'मगल' करना चाहिए। शास्त्र के आदि में मगल पढने से शिष्यगण शास्त्र के पारगामी होते हैं, मध्य में मगल करने से निर्विघ्न विद्या प्राप्त होती है, और अन्त में मगल करने से विद्या का फल प्राप्त होता है (तिलोयपण्णत्ति, 1/28-29, धवला-1/1, 1, 1 गाथा 19-20/40 तथा 9/4, 1, 1 गाथा-2/4)। यहाँ प्रस्तुत पद्य 'अन्त्यमगल' के रूप में आया है।

तीर्थंकर की वाणी को, समस्त भव्य प्राणियो के लिए परम उपकारी होने से, 'अमृत' की उपमा दी गई है (उपासकाध्ययन, 39/673-674 तथा आदिपुराण, 25/28-31) और उसकी अगाधता, विशालता आदि को द्योतित करने के लिए उसे 'समुद्रवत्' भी कहा गया है (प्रशमरतिप्रकरण-5, धवला-1/1, 1 गाथा 50)। आचार्य पद्मनन्दि ने भी चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की वाणी को अमृत-किरणों के समान बताया है (पद्मनन्दि पंचविशति-16/8)। योगीन्दुदेव ने भी यहाँ जिनेन्द्रदेव की वाणी को चन्द्र किरणो से भी मनोहारी तथा दुग्धमय जलप्रवाह के समान बताया है।

यहाँ की 'योगाग्नि में क्लेशलता की आहुति देने वाले' कहकर चन्द्रप्रभस्वामी की स्तुति की गई है। इस कथन से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य 'योग-साधना' की महत्ता तथा उसके महनीय फल की सूचना मिलती है। अत 'योगसाधना से समस्त क्लेशों का नाश हो ही जाता है'—इस तथ्य को उक्त कथन में इगित किया गया है।

इति योगीन्द्रदेवविरचितामृताशीतिनामधेय: योगग्रन्थ: समाप्त ।

टीकाकार की प्रशस्ति—

वरसैद्धान्तिकचक्रे-
श्वर नयकीर्ति-व्रतीश-सुतनखिळकळा-
धरनिषद निजचिद्गुण-
परिणतनध्यात्मिबाळचन्द्रमुनीन्द्रम् ॥1॥
अमृताशीतिगे टीकनुद्धरिसिद कर्णाटदिदात्मत-
त्वमनत्युत्तमबोध-दृक्-सुखदमं चन्द्रप्रभार्यगे कू-
र्तु मन बोक्किरे पेळवेनेम्ब बगेयिं श्री बाळचन्द्र सदा-
विमलं श्री नयकीर्ति देवतनयं चारित्रचक्रेश्वरम् ॥2॥

श्रीवीरनाथाय नमः । श्री पंचगुरुभ्यो नम । श्रीवीतरागाय नम ।

खण्डान्वय –(1) वर=श्रेष्ठ, सैद्धान्तिकचक्रेश्वर=सिद्धान्त-चक्रवर्ती, नयकीर्तिव्रतीशसुतं=नयकीर्ति आचार्य के शिष्य, अखिळ-कलाधरनिषद=सम्पूर्ण कलाओ में निष्णात, निजचिद्गुणपरिणत= अपने चैतन्यगुणों में परिणमित, अध्यात्मिबाळचन्द्रमुनीन्द्रम्=आचार्य बालचन्द्र 'अध्यात्मी' (है) ।

(II) सदाविमलं=सर्वदा शुद्ध (आचरण वाले), चारित्रचक्रेश्वर श्रीनयकीर्तिदेवतनय=चारित्रचक्रवर्ती श्री नयकीर्तिदेव के शिष्य, श्री बालचन्द्र=श्री बालचन्द्र (टीकाकार), अत्युत्तम-बोध-दृक्-सुखदम=अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन व सुख को देने वाले, (तथा) आत्म-तत्त्व मन बोक्किरे=(शुद्ध) आत्मतत्त्व को आत्मसात् कराने वाले (इस), अमृताशीतिये='अमृताशीति' (नामक ग्रन्थ) की, कर्णाटदिद टीकं=कन्नड भाषा के द्वारा टीका को, चन्द्रप्रभार्यगे=चन्द्रप्रभार्य के लिए, पेळ्वेनेम्ब बगेयि=प्रतिपादन करने की इच्छा से, कूर्तु= सम्बोधित करते हुए, उद्धरिसिद=उद्धृत करते है/रचना करते हैं ।

श्री महावीर स्वामी को नमस्कार हो । श्री पचपरमेष्ठियो को नमस्कार हो !! श्री वीतराग (परमात्मा) को नमस्कार हो !!!

विशेष—उपर्युक्त प्रशस्ति-पद्यो द्वारा टीकाकार आचार्य बालचन्द्र अध्यात्मी ने अपने गुरु सिद्धान्तचक्रवर्ती नयकीर्तिदेव का, अपना व टीका के निमित्त चन्द्रप्रभार्य का नामोल्लेख करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को उत्तम ज्ञान-दर्शन व सुख को देने वाला तथा निजशुद्धात्मतत्त्व की स्थिरा-नुभूति प्राप्त करानेवाला बताकर इसका फल प्रदर्शित किया है ।

पद्यानुक्रमणिका

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

अपभ्रंश और अवहट्ट : एक अन्तर्यात्रा—पाण्डेय शम्भूनाथ, चौखम्भा ओरियण्टालिया, दिल्ली, प्रथम सं०, 1979 ई० ।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य—जैन देवेन्द्र कुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सं०, 1966 ई० ।

अपभ्रंश साहित्य—कोछड हरिवंश, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, प्रथम सं०, वि० सं० 2013 ।

अष्टापाहुड—आ० कुंदकुंद, वीत० सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर, तृतीय सं०, वी० नि० स० 2502 ।

अष्टसहस्री—आ० विद्यानन्दि, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, प्रथम सं०, 1915 ई० ।

आत्मानुशासन—आ० गुणभद्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्रथम सं०, 1961 ई० ।

आप्तपरीक्षा—आ० विद्यानन्दि, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, प्रथम सं०, 1949 ई० ।

आदिपुराण, भाग 1-2 - आ० जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय सं०, 1965 ई० ।

आराधनासार—आ० देवसेन, ब्र० लाडमल जैन, श्री महावीर जी, प्रथम सं०, 1971 ई० ।

उत्तरपुराण—गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय सं०, 1968 ई० ।

उपनिषत्संग्रह—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम सं०, 1970 ई० ।

कसायपाहुडसुत्त—आ० गुणधर, वीर शासन संघ, कलकत्ता, प्रथम सं०, 1955 ई० ।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वामी कार्तिकेय, परमश्रुतप्रभावक मंडल, अगास, प्रथम सं०, 1960 ई० ।

कुंदभारती (संग्रह),—आ० कुदकुंद, श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन
ति, फलटण, प्रथम सं०, 1970 ई० ।
क्षशतक—गोरखनाथ, गोरखनाथ मंदिर गोरखपुर, प्रथम सं०,
वि० स० 2038 ।
क्षसिद्धातसंग्रह—सम्पा० श्रीवास्तव रामलाल, गोरखनाथ मंदिर
गोरखपुर, प्रथमसं०, स० 2036 वि० ।
गीता (समणसुत्तं)—मुनिसंघ स्वागत समिति, सागर, प्रथम सं०,
1978 ई० ।
धर्म का प्राचीन इतिहास भाग-2, शास्त्री परमानद, पी० एस०
मोटर्स, राजपुर रोड दिल्ली, प्रथम स०, वी० नि० स० 2500 ।
न्द्रसिद्धात कोश, भाग 1-4—जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ,
द्वितीय सं०, 1985-88 ई० ।
योगग्रन्थचतुष्टय– आ० हरिभद्रसूरि, मुनि हजारीमल स्मृति
प्रकाशन ब्यावर, प्रथम, 1982 ई० ।
ार्णव—आ० शुभचन्द्र, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर, प्रथम
सं०, 1977 ई० ।
वसार—आ० देवसेन, सत् श्रुतसेवा-साधना केन्द्र, अहमदाबाद,
प्रथम सं०, 1981 ई० ।
वानुशासन—आ० रामसेन, वीर सेवा मदिर ट्रस्ट, प्रथम सं०,
1963 ई० ।
वार्थसार—आ० अमृतचन्द्रसूरि, गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
वाराणसी, प्रथम सं०, 1970 ई० ।
वार्थराजवार्तिक भाग-1—भट्ट अकलकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ,
द्वितीय सं०, 1982 ई० ।
वार्थराजवार्तिक भाग-2—आ० अकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ,
प्रथम सं०, 1957 ई० ।
वार्थवृत्ति—आ० श्रुतसागरसूरि, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सं०,
1949 ई० ।
वार्थश्लोकवार्तिक—आ० विद्यानन्दि, निर्णयसागर प्रेस बम्बई,
प्रथम सं०, 1918 ई० ।
लोयपण्णत्ति (1-3)—आ० यतिवृषभ, भारतवर्षीय दि० जैन
महासभा, प्रथम सं०, 1984 ई० ।

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (खण्ड-2)—शास्त्री नेमिचन्द, भा० दि० जैन विद्वत् परिषद, प्रथम सं०, 1974 ई० ।

दशवैकालिक व उत्तराध्ययन सूत्र—जैन श्वे० तेरापथी महासभा कलकत्ता, प्रथम सं०, वि० सं० 2023 ।

नियमसार—आ० कुदकुद, दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ, चतुर्थ सं०, वी० नि० सं० 2503 ।

पद्मनन्दि पचविंशति—आ० पद्मनन्दि, जैन संस्कृति सरक्षक सघ सोलापुर, द्वितीय सं०, 1977 ई० ।

पद्मपुराण (भाग 1-3)—आ० रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय सं०, 1977-78 ई० ।

परमात्मप्रकाश-योगसार—आ० योगीन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मडल अगास, पचम सं०, 1988 ई० ।

पातजल योगदर्शन—महर्षि पतजलि, एम० एल० चाडल, अजमेर, द्वितीय सं०, 1961 ई० ।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—आ० अमृतचन्द्र, सुरेश सी० जैन, नई दिल्ली, प्रथम स०, 1989 ई० ।

पचास्तिकायसग्रह (तत्त्वप्रदीपिका)—कुदकुद, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सं०, 1975 ई० ।

पचास्तिकायसग्रह—आ० कुदकुद, परमश्रुत प्रभावक मडल अगास, तृतीय स०, 1969 ई० ।

प्रशमरति प्रकरण—श्रीमदुमास्वामी, परमश्रुत प्रभावक मडल, प्रथम सं०, 1950 ई० ।

प्रवचनसार—आ० कुदकुद, वीतराग सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट भावनगर, तृतीय सं०, वि० स० 2032 ।

वृहद् द्रव्यसंग्रह—आ० नेमिचन्द्र सि० च०, परमश्रुत प्रभावक मंडल अगास, चतुर्थ सं०, वि० सं० 2035 ।

वृहद्नयचक्र—माइल्ल धवल, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सं०, 1971 ई० ।

भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर, 122वां सं०, वि० स० 2036 ।

भगवती आराधना, भाग-2—आ० शिवार्य, जैन संस्कृति संरक्षक सघ सोलापुर, प्रथम सं०, 1978 ई० ।

मूलाचार—आ०कुंदकुंद, श्रुतभण्डार व ग्रंथ प्रकाशन समिति फलटण, प्रथम सं०, वि० नि० सं० 2484।

मूलाचार (भाग-2)—आ० वट्टकेर, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सं०, 1984-86।

महाबन्ध (भाग 1-7)—आ० भूतबलि, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सं०, 1947-58।

महाभारत (शांतिपर्व)—वेदव्यास, गीता प्रेस गोरखपुर, चतुर्थ सं०, वि० स० 2044।

यशस्तिलकचम्पू—आ० सोमदेवसूरि, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, प्रथम सं०, 1916 ई०।

योगदृष्टिसमुच्चय-योगविंशिका—हरिभद्रसूरि, एल० डी० इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, प्रथम सं०, 1970 ई०।

योगशास्त्र—आ० हेमचन्द्र, श्रावक भीमसिंह माणेक बम्बई, प्रथम स०, 1899 ई०।

योगसार टीका—योगीन्दुदेव, गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान वाराणसी, प्रथम सं०, 1987 ई०।

योगसार टीका—योगीन्दुदेव, श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल टस्ट सिवनी, प्रथम सं०, 1989 ई०।

योगसारप्राभृत—आ० अमितगति, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सं०, 1960 ई०।

लघुतत्त्वस्फोट—आ० अमृतचन्द्र, गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी, प्रथम सं०, 1981 ई०।

वरांगचरितम्—आ० जटासिंहनन्दि माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम सं०, 1938 ई०।

वीरशासन के प्रभावक आचार्य—जोहरापुरकर एव कासलीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सं,० 1975 ई०।

शतकत्रय—भर्तृहरि, भारतीय विद्याभवन प्रतिष्ठान, प्रथम सं०, वि० सं० 2005।

शिवसंहिता—देखे, योगवाणी, वर्ष 10, अंक 1, जनवरी 1985, गोरखनाथ मंदिर (गोरखपुर, उ०प्र०)।

शिवस्वरोदय—अनु० शास्त्री हरेकृष्ण, ठाकुरप्रसाद एण्ड सस, वाराणसी, प्रथम सं०, 1977 ई०।

षट्खण्डागम (पुस्तक 1-3)—आ० पुष्पदंत व भूतबलि, जैन संस्कृति सरक्षक सघ सोलापुर, जैन साहित्योद्धारक फंड विदिशा।

समयसार (आत्मख्याति)—आ० कुदकुद, अहिसा मंदिर प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सं०, 1959 ई०।

समयसार-कलश—आ० अमृतचन्द्र, वीतराग साहित्य प्रकाशक टस्ट भावनगर, तृतीय सं०, वी० नि० स० 2503।

समाधितंत्र व इष्टोपदेश—आ० पूज्यपाद, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, तृतीय सं० 1965 ई०।

सर्वार्थसिद्धि—आ० पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय सं० 1971 ई०।

सिद्धसिद्धात पद्धति—देखे योगवाणी, वर्ष 7, अंक 1, जनवरी 1982, गोरखनाथ मदिर गोरखपुर।

सिद्धांतसारादि सग्रह—सम्पा० सोनी पन्नालाल, माणिकचंद जैन ग्र थमाला बम्बई, प्रथम सं०, 1922 ई०।

सुभाषितरत्नभाण्डागारम्—संशोधक नारायणराम आचार्य, मुंशीराम मनोहरलाल नई दिल्ली, द्वितीय सं०, 1978 ई०।

स्याद्वाद मंजरी—आ० मल्लिषेण, परमश्रुत प्रभावक मडल अगास, तृतीय सं०, 1970 ई०।

स्वयम्भूस्तोत्र—आ० समन्तभद्र, वीर सेवा मंदिर टस्ट, प्रथम सं०, 1951 ई०।

हठयोग प्रदीपिका—देखे 'योगवाणी', वर्ष 6, अक 1, जनवरी 1981, गोरखनाथ मदिर गोरखपुर।

हरिवशपुराण—आ० जिनसेन. भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय सं०, 1978 ई०।

हितोपदेश नारायण पंडित।